कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

Year 7, Issue 26
April-June, 2010

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष ७ - अंक २६, अप्रैल-जून २०१०

बसंत

पद्माकर

कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,

क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।

कहै पद्माकर परागन में पौनहू में,

पातन में पिक में पलासन पगन्त है।।

द्वारे में दिसान में दुनी में देश-देसन में,

देखौ दीप-दीपन में दिपत दिगन्त है।

बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में,

बनन में बागन में बगरो बसंत है।।

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
धरती को हम स्वर्ग बनाएँ	राकेश चक्र	३
एक और जबाला	डॉ. मुक्ता	४
मुक्तक	राजेन्द्र बहादुर सिंह 'राजन'	६
हिन्दी	डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय	७
हिन्दी	नन्दलाल भारती	१५
मछली मछली कित्ता पानी	विनायक	१६
मुझमें कितना बचपना था	विनायक	१६
विश्व के दादाओं	विजय तन्हा	१७
मातृ-छाया	विकेश निझावन	१८
आधुनिक जीवन	स्वर्ण तलवा	२३
छोटी-सी गु या की लम्बी कहानी	डॉ. शशि मोहन ऋषि	२४
धार्मिकता बनाम नैतिकता	डॉ. हरजेन्द्र चौधरी	२५
मिली भगत	महेश राजा	२९
मेरा यथार्थ	केशव शरण	३०
ज ें	डॉ. संतोष गोयल	३१
दोनों हमारे हाथ में हैं	डॉ. किशोर काबरा	३८
रोज़गार और हिन्दी	डॉ. परमानंद पांचाल	३९
तिमिर कहीं....	केशरी नाथ त्रिपाठी	४२
१८५७ : प्रमुख लोकगीत, लोक कविताएँ	अरुण सिंह	४३
शब्द से परे	डॉ. रमा सिंह	४४
बसंत	पद्माकर	१३अ
ग़ज़ल	ख़याल खन्ना	४४अ

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :
16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534
वार्षिक शुल्क Annual subscription..........$25.00
डाक द्वारा By Mail................................$35.00
Website: http://Vasudha1.webs.com
e-mail: sneh.thakore@rogers.com

संपादकीय

परिवर्तन शाश्वत् नियम है। समय का पहिया घूमता ही रहता है। कैनेडावासियों के लिए अप्रैल माह का आगमन ब ा ही आनन्ददायी है क्योंकि इस समय, समय का चक्र उसे शिशिर के ठिठुरते अनुभवों से मुक्त कर वसंत की बाँहों के झूले में, आनन्दित हो झूलने-झूमने की इज़ाज़त देता है। कामदेव अपने सोलह श्रृंगार सहित फूलों का धनुष-वाण लिए जन-मानस को मोहित कर आनन्द-सागर में आलोि त करने आ पहुँचा है।

वैसे तो इस समय जहाँ-तहाँ विभिन्न रंगों के ट्यूलिप वसंत की मद-मस्त बयार में झूमते अपने-अपने नन्हें-नन्हें सिर उठा, शिशिर की कठोरता से कठोर हुई धरती की भी परवाह न कर नटखट बच्चों की तरह हर आँगन-मैदान, घर के चौबारे-चादरीवारी में अठखेलियाँ कर खिलखिलाते नज़र आयेंगे, हर जगह ही ट्यूलिप की बहार ही बहार है। पर इस समय देश की राजधानी ऑटवा में तो ट्यूलिप का आगमन एक बहुत ब े महोत्सव में परिवर्तित हो जाता है। देश-विदेश से लोग इन्हें देखने व इस समय का लुत्फ़ उठाने यहाँ एकत्रित होते हैं। हालैण्ड के बाद कैनेडा का ऑटवा शहर ही ट्यूलिप की मनोरम छटा के लिए विख्यात है।

ट्यूलिप की छटा के साथ ही साथ ट्यूलिप की कथा भी पर्यटकों को रोमांचित करती है। ऑटवा में हर वसंत ऋतु में एक तीन पर्तों में लिपटा हुआ ड्रामा अपने जीवन्त रंगों में परत-दर पतर खुलता है। इसकी शुरुआत युद्ध की पृष्ठभूमि से हुई जो सहृदयता में पनपी और जिसका उपसंहार 'प्रशंसात्मक धन्यवाद' में हुआ। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के दौरान नैदरलैंड्स की राजकुमारी जुलियाना को अपना देश छो ना प ा। कैनेडा ने उनके और उनके परिवार का स्वागत किया व उन्हें ऑटवा में सुरक्षा प्रदान की।

जब राजकुमारी ज़ुलियाना, कैनेडियन सैनिकों की सहायता से स्वतंत्र किये गये अपने देश वापस लौटीं और राज्यसिंहासन पर विराजमान हुईं तब उन्होंने कैनेडा और कैनेडावासियों को, उनके आदर-सत्कार का, उनके अपने देश को परतंत्रता की बेि यों से स्वतंत्र कराने के सहयोग में उनकी सहायता का, आभार प्रदर्शन करने हेतु धन्यवाद के शब्दों के साथ एक अनूठी भेंट दी।

रानी ज़ुलियाना ने न केवल दस हज़ार ट्यूलिप बल्बस् ऑटवा भेजे वरन् एक ऐसी प्रथा चलाई कि तब से हर साल इतने ही ट्यूलिप बल्बस् वहाँ से ऑटवा आते हैं। और इस तरह ये रंग-विरंगे जीवन्त फूल हर साल मस्त पवन के मदमाते झोंकों में लहरा-लहराकर राजकुमारी मारग्रीटा की जन्म-कथा, कैनेडावासियों की उदारता व रानी ज़ुलियाना की धन्यवाद स्वरूप अनूठी भेंट का गुणगान करते हुये कैनेडा की राजधानी ऑटवा की धरती को वसन्त ऋतु के आगमन पर लाल, पीले, जामुनी, नारंगी सफ़ेद, गुलाबी, विभिन्न रंगों से पाट कर सजा देते हैं।

कैनेडावासियों ने इस उपहार को पचास वर्षों से भी ज़्यादा समय से एक महोत्सव के रूप में परिवर्तित कर दिया है। हर वर्ष मई का महीना ऑटवा में ट्यूलिप फेस्टिवल के रूप में मनाया जाता है।

यह महोत्सव न केवल इतिहास की याद ताज़ा करता है वरन् इसके साथ-साथ ऑटवा-निवासियों में एक नई स्फूर्ति भर देता है। यहाँ की सर्दी का मौसम कुछ लम्बा ही होता है। ठंड भी कुछ क ाके की ही प ती है। शिशिर के इस प्रहार से प्रताि त जब ऑटवा-निवासी उभरने की प्रक्रिया में होता है तब वसन्त के कामदेव का इन करो ों खूबसूरत फूलों के साथ आगमन उसे मद-मस्त कर विभोर कर देता है। प्रकृति, शिशिर की कठोरता झेलने के उपलक्ष्य में मानव-जाति को इन रंग-विरंगे नयनाभिरामों से उपकृत करती है। इससे ब ा उपहार और क्या हो सकता है। ठण्ड से ठिठुरते अंगों को सहलाने के लिए धरती की छाती से निकले इन करो ों रंग-विरंगे फूल-वाणों की छटा अवर्णनीय है। इस सुन्दरतम छटा को देख आँखें और मन बरबस ही जु ा जाता है, और शीतकाल की कठोरतम स्मृति अतीत के किसी कोने में सिर झुका कर बैठ जाती है।

नव वसंत का आगमन अपनी ऊर्जा, अपनी प्रेरणा से हमें भी जन-कल्याण हेतु प्रेरित करे। आतंक मुक्त जीवन, समाज और विश्व की कामना और तद्नुसार आचरण के प्रति जन-जन संकल्पित हो, इसी आशा को मन-प्राण में सँजोये, सस्नेह,

स्नेह ठाकुर

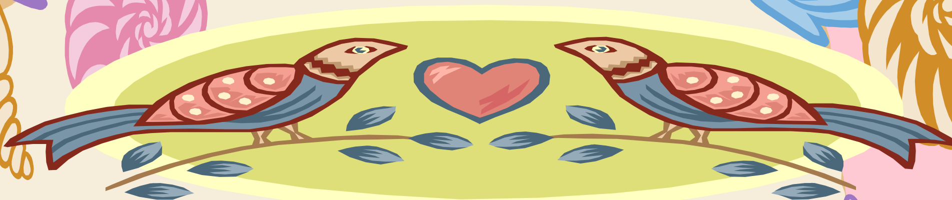

धरती को हम स्वर्ग बनाएँ

राकेश चक्र

प्यारी-प्यारी धरती को हम,
फिर से मिल कर स्वर्ग बनाएँ।
वृक्ष रोप कर जीवन अपना,
आओ हम सब धन्य बनाएँ।
वन-उपवन और खेतों-खेतों,
गमलों-क्यारी-पथों-पथों।
सरवर नदियों के तटो-तटों,
भवनों, विद्यालयों, वटों-वटों।
विधवा होती इस धरती को,
नए-नए श्रृंगार कराएँ।
बच्चे जागें, बूढ़े जागें,
गाँव-नगर भी सारे जागें।
नई उमंगें नए जोश में,
और युवा हों सबसे आगे।
नीचे गिरते जल-स्तर को,
वृक्ष लगा कर आज बचाएँ।
हर संस्था ही जाग उठेगी,
जगह-जगह बगिया महकेगी।
रोजगार के बढ़ते पथ पर,
नदियों की रसधार बहेगी।
सबसे ब ा पुण्य जीवन में,
द्वार-द्वार पर वृक्ष सजाएँ।
निर्धन हो या पैसे वाला,
वृक्षों का हो वो रखवाला।
हरी-भरी यदि धरती होगी,
बादल गायेगा मतवाला।
समय-समय पर जल बरसे तो,
खुशहाली के दीप जलाएँ।
रोग मिटेंगे, शोक मिटेंगे,
चहकेगा सब का ही जीवन।
पक्षीगण सब गीत सुनाएँ,
नाचेगा मयूर भी वन-वन।
वन्य जन्तुओं के जीवन को,
आओ मिल सब आज बचाएँ।
नीम, आम, अमरूद लगाएँ,
पीपल, बरगद छाया लाएँ।
और पर्वतों के जन-जन भी,
सेव, ची , देवदार सजाएँ।
वृक्ष रोप यूँ बाँज के भैया,
भूस्खलन से भूमि बचाएँ।
पर्यावरण बन जाए निर्मल,
स्वस्थ रहें और पाएँ बल।
झरने नदियाँ बहेंगी कल-कल,
और सरोवरों खिलें कमल।
रोप-रोप पौधों को भैया,
अपना ही उपकार कराएँ।।

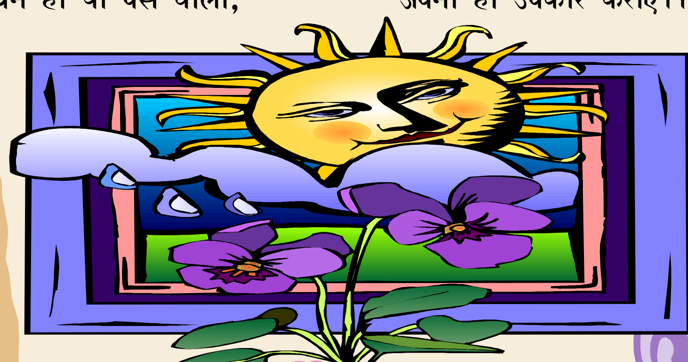

एक और जबाला

डॉ. मुक्ता

'तुरई लो, बैंगन लो, घीया लो।'

'आ गयी अनारो, क्या मर्दानी आवाज़ पायी है !' भुवन की आवाज़ में गहरा व्यंग्य है।

'यह रोज़ स्कूल जाने के समय ही आ धमकती है।' दिव्या ब ब ाती हुई बोली, बालों को तौलिये से लपेटती बाथरूम से बाहर निकलती है। तभी ज़ोर से कॉलबेल बजने की आवाज़ आती है।

'अब कौन आ गया?' दिव्या बाहर बालकनी से नीचे झाँकती है।

'बीबी ! मैंने बजाई है घंटी।'

'कितनी बार तुझे मना किया है अनारो, घंटी मत बजाया कर। तेरी आवाज़ ही काफी है।'

'बीबी, आदत प गई है, अब न बजाऊँगी। देखो ताजी सब्जी है, बोलो क्या चाहिए? मैं ऊपर पहुँचा दूँगी।'

'ला, दे जा।' दिव्या एक-दो नाम गिना कर वापस स्कूल जाने की तैयारी में लग गयी।

'बहू जी ! आपने इतना इसे मुँह लगा लियो है, मरी सीधे मुँह उठाए घर में चली आवे है। कल को कुछ खो-खा गया तो नाम मेरो लग्यो गो।'

'अब तू चुप रह कमली, मुझे देर हो रही है। जा, सब्जी ले ले।' झुंझलाकर दिव्या ने कहा।

भुवन ऑफिस जा चुके हैं। दिव्या टिफिन उठाए हाँफती-दौ ती किसी तरह बस पक ती है।

'आलू लो, टमाटर लो, आज शिमले की मिर्चें भी हैं और लखनऊ की कक ी भी। आओ बीबी, ले जाओ।' ठेला आगे बढ़ाती, गुहार लगाती जा रही थी अनारो।

'ला, तोल दे एक पाव कश्मीरी मिर्च। ठीक से तौलना, तेरा तराज़ू सही नहीं।' भारी-भरकम मिसेज़ खन्ना ने सीढ़ी से उतरते हुए कहा।

'ना बीबी ! राम कसम, बेईमानी का धंधा मैं ना करती। खरा माल है और खरा ही तौल।' सौदे के ऊपर थो ी हरी मिर्च डाल कर आगे बढ़ गई अनारो।

'मिसेज़ धीर ! इस बार का वार्षिकोत्सव बहुत अच्छा होना चाहिए। हम शिक्षामंत्री को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित करने की सोच रहे हैं।' स्कूल पहुँचते ही दिव्या को प्रधानाचार्य ने अपने कक्ष में बुलवाया, 'ऐसा है, आठवाँ घंटा आप खाली करवा लीजिए बच्चों के रिहर्सल के लिए। समारोह का पूरा दायित्व आप पर है।'

'सो तो ठीक है दीदी, लेकिन कार्यक्रम की रूपरेखा के विषय में आप भी कुछ सुझाव दीजिए।' दिव्या ने साग्रह प्रधानाचार्य मिस पॉति से कहा।

'मिसेज़ धीर ! मेरे विचार से एक पौराणिक नाटक तो आप अवश्य रखिए। हमें अपनी पहचान के लिए अतीत की पृष्ठभूमि से तो गुज़रना ही होगा। चाहे हम कितने अँग्रेज़ बने, अपने बच्चों के नाम के लिए संस्कृत के पुराने शब्द ही ढूँढते हैं।'

'कौन-सा नाटक ठीक रहेगा दीदी. . . . ? दिव्या की बात काटते हुए मिस पॉति ने कहा 'यह चुनाव तो आपको स्वयं करना है। ऐसे बहुत से नाटक हैं जिनकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।' अपनी स्वीकृति देकर दिव्या कक्षा में पढ़ाने चली गई; लेकिन उसका मन आश्रमों और वनों के चक्कर काटता रहा।

घर पहुँचते ही अपनी उलझन उसने भुवन के आगे रख दी - 'तुम्हें नहीं लगता भुवन, हमारे ऋषि-मुनि यह सारी तपस्या, सारा प्रयत्न मृत्यु का रहस्य जानने के लिए करते थे। अमर होना ही शायद उनका लक्ष्य था।'

'हो सकता है दिव्या, पर मुझे तो यही ख़याल ठीक लगता है कि ऐसी जन्नत का क्या करना जहाँ लाखों बरस की हूरें हों।' भुवन के उन्मुक्त ठहाकों से वातावरण में माधुर्य बिखर गया।

अँधेरा छटा ही था कि अनारो की रौबीली आवाज़ गूँजने लगी। लेकिन आवाज़ कोहराई-सी थी जैसे बहुत दूर से आ रही हो। दिव्या की लेन में तो ठीक आठ बजे आयेगी अनारो घ ी की सुई की तरह।

टिफिन का डिब्बा पर्स में रखती हुई जैसे ही नीचे उतरी, अनारो टकरा गई, 'बीबी, राम-राम जल्दी में हो?'

'हाँ, कुछ कहना है? फिर बीमार हो गया है क्या तेरा बेटा?'

'हाँ, बीबी। वो तो जन्म से रोगी है। इस बार डाक्टर कहते हैं मलेरिया बुखार है। बस दस रुपये दे दो, सब्जी में काट लेना। क्या करूँ, यही सहारा है बीबी।'

'ठीक है। लेकिन इस बार दे रही हूँ, आगे फिर मत माँगना।' दिव्या ने दस का नोट देते हुए कहा।

'तुम जियो, तुम्हारे बाल-बच्चे जिएँ।' आशीषें न्योछावर करती हुई अनारो आगे बढ़ गई।

अनारो जब चलती, पैरों में मोटी-मोटी पाज़ेबें छन-छन बजतीं। किस्से-कहानियों की न जाने कितनी पोटलियाँ, न जाने कितनी आप-बीती उसके अंदर घुम कर मोहल्ले, गलियों का रास्ता तय करतीं। उसका अपना इतिहास भी मोहल्ले-वासियों द्वारा रोज़ नये रूप में प्रस्तुत होता।

'अजी, यह जो बेटा बनाए फिर रही है, इसका है भी कि नहीं। इसके आदमी को तो किसी ने नहीं देखा।'

'नहीं जी, बेटा तो इसका कोख-जाया है। हाँ, आदमी का पता नहीं है।'

कमली के माध्यम से दिव्या को भी इन बातों की भनक लगती रहती है। दिव्या के आगे अभी भी अनारो का दयनीय चेहरा घूम रहा है। बस ओखला से आगे बढ़ रही है। स्कूल के गेट पर पहुँचते ही दिव्या के आगे एक दृश्य उभरा जिसे अभी पीछे छो` अनारो के दृश्य से पूरी तरह जो ा तो नहीं जा सकता किंतु कहीं न कहीं समानता अवश्य है। दृश्य बदले हैं संदर्भ वही है। बालक सत्यकाम माता जबाला से पूछ रहा है, 'मेरे पिता कौन हैं?' माता चिन्तित है फिर भी सत्य को मुट्ठी में कसकर थामे हुए है, 'पुत्र, युवावस्था में आश्रम में मैंने अनेक ऋषि-मुनियों की सेवा की है। मुझे नहीं पता तुम्हारे पिता कौन हैं? तुम मेरे आत्मज हो और यही तुम्हारा परिचय है, सत्यकाम जबाला।'

जितनी जबाला अनभिज्ञ थी अपने शोषण से, आज अनारो भी उतनी ही अनभिज्ञ है।

'तो किस पौराणिक प्रसंग का चुनाव आपने किया, मिसेज़ धीर? एनुअल फंक्शन तो अब बिलकुल करीब आ गया है। मिस पॉति के पूछने पर दिव्या ने समाधान प्रस्तुत कर दिया, 'सत्यकाम जबाला।'

दिव्या बहुत व्यस्त है। अनारो भी व्यस्त है। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। दिव्या अपने आईने में अनारो को प्रस्तुत करना चाहती है - एक नये रूप में मंच पर। अनारो अपने सपने सजा रही है। अपने बेटे की दुल्हन की चुनरी में सलमें-सितारे टाँक रही है।

'क्यों री ! आज तो ब ी सजी हुई है। माँग भी पूरी भर रखी है। बूटियोंवाला लहँगा, चुनरी भी ओढ़े है। क्या बात है?' दिव्या अपनी आदत के विरुद्ध प्रश्न कर बैठती है।

'बीबी, तेरे लिए लड्डू लाई हूँ। छोटे का ब्याह कर दिया है। बहू भी ब ी सलोनी है।'

'कहाँ की है? कभी लेकर आना, मैं भी देखूँगी।'

ज़रूर लाऊँगी बीबी, यहीं गु गाँवा के पास की है।'

बीच में बहुत दिन बीत गए। वार्षिकोत्सव में 'सत्यकाम जबाला' नाटक विशेष चर्चा का विषय था। प्रस्तुति और निर्देशन के लिए दिव्या को सभी ओर से बधाइयाँ मिलीं। मंत्रीजी ने भी सराहना की। मिस पॉति अपना नाम जो ना भी न भूलीं, 'सुझाव तो मेरा ही था, क्यों मिसेज़ धीर?'

थकान से लस्त दिव्या बिस्तरे पर प गई।

'अरे ! कुछ सुना बहूजी आपने?' कमली दिव्या के सिरहाने आ ख ी हुई।

'क्या बात है?' दिव्या ने अनमनेपन से पूछा।

'डी.डी.ए. वाले आये थे, अनारो की झुग्गी खाली कराने। अनारो ने ऐसा स्वांग बनाया कि किसी की हिम्मत न हुई अंदर घुसने की। अनारो के अलावा सभी की झोपा याँ उजा गये हैं।' मारे उत्साह के कमली बोलने का अपना पुराना लटका भी भूल गई थी।

'अरी, पहेलियाँ मत बुझा, ठीक से बता क्या हुआ?'

'सुना है बहूजी, जब डी.डी.ए. वाले घर में घुसने लगे तो अनारो द्वार घेर कर ख ी हो गई। कहने लगी, मेरी बहू दर्द से बेहाल है, बच्चा जनने वाली है। मैं किसी मर्द-मानुस को अंदर न जाने दूँगी। अनारो का चंडी रूप देख कर सब भाग ख` हुए।

'अब तुम्हीं बताओ, बहूजी, ब्याह के कुल एक महीने हुए और अनारो की बहू बच्चा भी जनने लगी।' कमली व्यंग्य से मुस्कुरायी।

दिव्या भी अपनी हँसी न रोक पायी। उसे अनारो की प्रत्युत्पन्नमति पर ब ा आश्चर्य हुआ। शाम को गली से गुज़रती अनारो को दिव्या ने आवाज़ देकर बुलाया, 'क्यों अनारो, कैसा स्वांग रचा था तूने? जरा बता तो।'

'अरे बीबी ! पेट के लिए जो मैं फिरकनी जैसी मुँह उघा े स -स क घूम रही हूँ, यह भी तो स्वांग ही है। फिर सिर छिपाने के लिए छत भी तो चाहिये। क्या करती? मैंने बहू से कहा, तू चीखें मार जोर-जोर से जिससे बाहर आवाज़ तो जाए। हम दोनों ने मिल कर किसी तरह बात सँभाली। इस बार तो बच गये बीबी, अगली बार राम जाने।' कहती हुई अनारो आगे बढ़ गई।

एक महीने की लम्बी छुट्टियों के बाद दिव्या लौटी। मौसी की ल की के विवाह का निमंत्रण उसे अचानक ही मिला। भुवन को छुट्टी न मिल सकी। उसे अकेले ही जाना प ा। परिधानों की नुमाइशी हो और लेन-देन की औपचारिकता में उसे अपने आप बौना-सा लग रहा था। कुछ स्त्रियों की सम्मिलित आवाज़ें उसके कान में प ीं 'दीदी आप अकेले ही व्रत नहीं रखेंगी, हमें भी तो कन्यादान देना है।'

मौसी की दोनों देवरानियाँ अपना महत्व जताने की कोशिश कर रही थीं। दिव्या के मुंह से अनायास ही निकल गया, 'कन्या भी कोई दान की वस्तु है, मौसी?'

फिर क्या था, मौसी ने उलाहनों की बौछार कर दी 'क्यों री दिव्या, ब ी-ब ी बातें करने लगी है। ल की के कन्यादान से भी बढ़कर कोई सुख है ! बच्चों वाली होती, तब न समझती। अभी तो वक्त है बिट्टो, क्यों नहीं किसी ब े डॉक्टर को दिखाती।' मौसी की सहानुभूति का नश्तर दिव्या से न सहा गया। उसके अपने सारे विचार मातृत्व की पी ा के आगे अपराधी हो गए। मौसी के आग्रह के कारण शादी के बाद भी दिव्या को कुछ दिन रुकना प ा। मेहमानों से घर भरा था। धीरे-धीरे सब चले गए, केवल दिव्या और दिव्या की माँ ही रुकी रहीं। पूरे समय मौसी के चेहरे का रोब उसे चारों ओर से जक े रहा, उसे एक घुटन-सी महसूस होती रही।

आज अपने घर वापस आने पर भी उस घुटन से वह पूरी तरह मुक्त नहीं हो पा रही है। उसे यह बार-बार महसूस हो रहा है कि उसे ही नहीं, पूरी पीढ़ी को मौसी ने कटघरे में ख ा कर दिया है।

सफ़र की थकान से अलसाई हुई जैसे ही बिस्तर पर लेटी, कमली आ ख ी हुई, 'बीबी, तुम्हारे जाने के बाद, तुमसे मिलने अनारो कई बार आई। ब ी दुखी लग रही थी। मैंने बहुतेरा पूछा पर उसने चुप्पी न तो ी। परसों अँधेरा हो चला था, तब फिर आयी। तुम्हें घर में न देख कर बोली 'जाते-जाते भी बीबी से मिलना मेरे भाग में ना है।' मैंने पूछा 'का भया?' कहाँ जाएगी तू?'

कहने लगी 'ल का-बहू ने निकाल दिया है। अब इतने ब े शहर में अकेले मेरा गुजारा ना है। गाँव छो े मुद्दत हुई, फिर भी वहीं जाऊँगी। बीबी से राम-राम कहना।'

अनमनी-सी दिव्या सुनती रही। सवेरा होते ही अलसाई-सी उठी और स्कूल जाने का उपक्रम करने लगी। कुछ घटना था, कुछ घटने वाला है, यह अहसास रह-रहकर दिव्या को हिला रहा था। घ ी की सुई-सी अनारों की फटी आवाज़ आज न आयी। स्टैण्ड पर पहुँचते-पहुँचते दिव्या की बस भी छूट गई। तुरन्त ऑटो लेकर स्कूल की ओर रवाना हुई। स क पार करती एक बच्चे की ऊँगली थामे एक औरत को देख कर उसे अनारो का भ्रम हुआ 'जल्दी रो....!' औरत ने मु कर देखा। अगला शब्द दिव्या के गले में ही अटक गया - 'अरे ! यह तो अनारो नहीं है।'

यह अनारो भी नहीं है, यह जबाला भी नहीं है, लेकिन यह प्रतिनिधित्व तो कर रही है पूरी उस जाति का जिसका इतिहास ठहर गया है। खण्डहर कोठियों में बदल गये लेकिन औरत वहीं ख ी है - सदियों से चुपचाप, अकेली।

मुक्तक

राजेन्द्र बहादुर सिंह 'राजन'

माँगा वरदान तो अभिशाप ही मिला मुझको
पुण्य की राह में भी पाप ही मिला मुझको,
प्रणय-रसधार देखता रहा अपलक 'राजन',
चमन में भी तो बस संताप ही मिला मुझको।

हिन्दी

डा. प्रभाकर श्रोत्रिय

अपनी शती की ओर हम कई संभावनाओं, आशंकाओं और प्रश्नों से देख रहे हैं। ये प्रश्न विज्ञान, विचार, राजनीति, अर्थशास्त्र, जाति, धर्म, पर्यावरण, सूचना-प्रौद्योगिकी, कला, संस्कृति, हमारी मिट्टी, हमारी जनता से जु े हैं और ये सभी चीज़े साहित्य से जु ी हैं - क्योंकि इन्हीं सब तत्वों और उपादानों से साहित्य अपना कथ्य और प्राण-वायु ग्रहण करता है। आचार्य भामह ने बहुत पहले जो कहा था वह आज भी सत्य है -

'न स शब्दों न तद् वाक्यों न सा विधा न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगं अहोभारः महान् कवेः।।'

कोई शब्द, कोई विधा, कोई कला, कोई विचार, कोई अनुभव, कोई दर्शन ऐसा नहीं होता, जिसका समावेश साहित्य में न हो सकता हो। शायद इसीलिए सदैव साहित्यकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह विभिन्न ज्ञान-विज्ञानों, कलाओं, अनुशासनों और समय के स्पन्दनों से जु ा रहे। सच्चे लेखक की यह श्रम-साधना है, 'साधु-संग्राम' है, जो तीव्रतर होता जा रहा है, क्योंकि ज्ञान और जीवन के जटिल व्यापारों का अत्यधिक विस्तार निरन्तर हो रहा है।

आज भूमण्डलीकरण और नव उदारवाद की आँधी चली हुई है। अधिकांश विश्व के सामने प्रश्न यह है कि वह इसे चुनौती मान कर इसका सामना करे या इसके अनुरूप अपने को ढाले ! क्योंकि यह कहा जा रहा है कि यह आगामी विश्व की अनिवार्यता है, परन्तु इसकी अन्तर्वस्तु आर्थिक उपनिवेशवाद है। आशंका होती है कि संकट के जिन दौरों से गुज़र कर मनुष्य ने अपनी स्वाधीनता पाई है और राजनीतिक उपनिवेशवाद के बियाबान को पार किया है, कहीं वह पराधीनता पुनः बाज़ार के अदृश्य और लुभावने मार्ग से आ तो नहीं रही है? यह सिंह है, जो मृग-मुद्रा में चला आ रहा है, जो सिंह-मुद्रा में आये सिंह से ज़्यादा भयावह है। राजनीतिक स्वाधीनता के दौर में और बाद में भी कहा गया कि सच्चा स्वराज्य तो मानसिक स्वराज्य है। जब कि हमारा आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक क्षेत्र ही नहीं, हमारा मानस भी बाज़ार की रेशमी गिरफ़्त में है। परिणामस्वरूप आज तीसरी दुनिया की सारी वैज्ञानिक, तकनीकी, बौद्धिक सर्जनात्मक ऊर्जा समाप्त हो गई, वह अनुवादक और अनुकर्ता हो गई। क्या इसी को वैश्वीकरण कहेंगे?

ऐसे में साहित्य का एक गंभीर उत्तरदायित्व है कि वह जीवन में भीतर तक घुस आए बाज़ारवाद के प्रति जनता को सावधान करे।

ऐसा भी नहीं है कि हम बौद्धिक पराधीनता से मुक्त रहे हैं। क्या आज़ादी के बाद से आज तक हम सब कुछ पश्चिम से लेते नहीं रहे हैं? साहित्य के क्षेत्र में या उसे लाभान्वित करने वाला एक भी ऐसा विचार हमारे देश में नहीं जन्मा, जिसे हम अपना कह सकें। आर्थिक और वैज्ञानिक आदान के लगातार बढ़ने की चिन्ता करते हुए हमने कभी आत्म-निर्भर होने का विचार किया था, नवीन अन्वेषण के लिए युवा वैज्ञानिकों, इंजीनियरों का एक विशाल दल ख ा करने की कोशिश की थी, परन्तु शायद अधूरे मन से किए गए ये कार्य केवल हम देख रहे हैं कि हमारे ये ही वैज्ञानिक, इंजीनियर, चिकित्सक आदि आज विश्व-भर में छाये हुए हैं परंतु देश उनके अवदान से वंचित हो गया है। ख़ैर, इसकी ब ी हानि हमको यह झेलनी प ी कि हम किसी भी क्षेत्र में कोई नई आविष्कृति नहीं कर सके। इसी प्रवाह में हम अपनी अस्मिता, आत्म-निर्भरता और आत्माभिव्यक्ति की भाषा भी भूलते जा रहे हैं और मौलिक सर्जनात्मकता को भी। हमारा कुछ साहित्य तो विदेशी विचारधाराओं के उदाहरण का काम दे रहा है। इससे दुःखदायी बात क्या होगी?

ठीक है कि भारत का एक सम्पूर्ण वैभवशाली अतीत रहा है। ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-साहित्य-कला-विचार के क्षेत्र में इसकी उपलब्धियाँ कमाल की थीं; लेकिन आज के ज्ञान-विज्ञान-संचार-शक्ति के स्त्रोत या परिणतियों में भारत की प्रत्यक्ष भागीदारी बहुत कम रही। इसे यदि हम अपनी अस्मिता बनाये रखने के अभिमान की तरह लें, तो वह हमारा इतिहासाभिमान ही होगा, जब कि स्वयं के अर्जित नवीन को हम जब तक मंच पर नहीं उतारते या कोई अपूर्व रंग-सृष्टि नहीं करते, तब तक

वर्तमान हमारा नहीं होगा, भले ही हम वर्तमान में हों। उपनिषद् का यह कथन भारत-जैसे प्राचीन देश के लिए सटीक है कि जो करना है, उसे याद करो और जो कर चुके हो, उसे भूल जाओ - 'कृतं स्मर,कृतो स्मर,,' क्योंकि हम जब सृजन-संकल्प में होते हैं, तब अतीत तो बिना स्मरण किए ही हमारी शक्ति बन जाता है। क्या सौ साल के भीतर ही कोई भाषा और साहित्य बिना आनुवंशिक शक्ति उस जगह ख ा हो सकता था, जहाँ आज हिन्दी है? इस अन्तर्निहित शक्ति के बल पर अब भी हम अपनी काट और स्वभाव की विशिष्ट आधुनिकता रच सकते हैं।

मुझे लगता है कि भारत का एक ऐसा मौलिक दर्शन या विचार संसार के सामने आना चाहिए, जो न सिर्फ़ हमारे समय की समस्याओं और प्रश्नों का उत्तर दे सके, वह भारतीय प्रवृत्ति और उसकी गतिमान मूर्धा की मौलिक अभिव्यक्ति हो, जो साहित्य, समाज, दर्शन, इतिहास, राजनीतिक आदि में एक नई ऊष्मा भर दे। वह विचार भारत की सामासिकता, उसके मूल्य और उसके अन्तर्सम्बोधनात्मक बोध से निसृत हो सकता है। गत शती का प्रतीक अन्ततः एक विखण्डन में प्रतिफलित हुआ था। हम एक ऐसा एकात्म, विविधता की रक्षा करते हुए भी अन्तर्सम्बंधों से पुष्ट दर्शन बना सकते हैं, जिसमें गाँधी के हिन्द-स्वराज की आत्मा का निवास हो। हम प्रायः अन्तर्सम्बंधों की चर्चा करते रहे हैं, परंतु वह मुख्यतः भेदमूलक रही है, जिसके बहाने 'सम्बन्ध' से अधिक 'अन्तर' दर्शाए गए हैं। जब कि हमारी मूल खोज समवायी तत्वों की खोज होना ज़्यादा सटीक होगी और अनुकूल भी। हमने देखा कि पश्चिम का भूमण्डलीकरण हो या साम्यवाद, अस्तित्ववाद हो या उत्तर संरचनावाद सबके मूल में विखण्डन, विच्छेद, वर्ग और वैशिष्ट्य है। भारत की उच्च कोटि की विभिन्न अनुशासनों की मेधाएँ यदि एक साथ बैठ कर कोई ऐसा दर्शन आविष्कृत करें, जो विश्व के सम्मुख आतंक, विनाश, युद्ध, द्वन्द्व, औपनिवेशिकता के विरुद्ध दूसरे और तीसरे विश्व का एक महत्वपूर्ण प्रस्थान हो।

वैसे तो समय संक्रान्त ही रहता है और यदि कभी वह ऊपर से स्थिर दिखाई भी देता है, तब भी उसके भीतर तरह-तरह के आलो न-विलो न चलते रहते हैं। जैसे धरती की भीरती प्लेटों या परतों में। वर्तमान समय को यदि हम एक शब्द से प्रतीकीकृत करना चाहें, तो वह है 'गति'। हम गम्भीर संक्रान्तिकाल से गुज़र रहे हैं। परन्तु हमारा समय तो तीव्र संक्रमण का काल है। आम तौर पर जहाँ तेज संक्रमण होता है, वहाँ दिशा-बोध लुप्त या धूमिल हो जाता है। **हमारे समय की सबसे ब ी चुनौती गतिशील समय में दिशा-बोध पाने की है।** वरना हम भागे चले जाएँगे, हमें पता ही नहीं चलेगा कि हम कहाँ जा रहे हैं, हमें कहाँ जाना है, हमारा लक्ष्य क्या है? सब कुछ ह ब ी में बनता-बिग ता चला जाएगा। यदि समय की गति इतनी तेज है और साहित्य को अपने चरित्र के अनुरूप अग्रगामी होना है, तो उसे समय की नब्ज़ पर ऊँगली रखना होगा, वरना उसकी अपील समाप्त हो जाएगी। प्रश्न यह है कि क्या हिन्दी सहित भारतीय भाषाएँ तत्परता और व्यग्रता से आधुनिकता को रचनात्मकता दे पा रही हैं? किसी भाषा का कोई भी तेवर हो, रंग हो, स्पर्श या गंध हो, लेकिन समस्त भूमण्डल में और अपने आस-पास जो परिवर्तन घटित हो रहे हैं, यदि उन्हें वह अनछुआ छो देंगी, तो उनकी 'अस्मिता' के क्या मानी रहेंगे? यदि हम अपनी भाषाओं से पूछें कि क्या उनमें साइबर स्पेस, भूमण्डलीकरण, उपग्रहों की दुनिया, कम्प्यूटर, टेस्ट-ट्यूब बेबी, सूचना प्रौद्योगिकी, आर्थिक उपनिवेशवाद, अतियान्त्रिकता, चिकित्सा-विज्ञान, प्रकृति-पर्यावरण, जनसंख्या-विस्फोट, आर्थिक, राजीतिक और खेलजगत् के घोटाले, आतंकवाद, सम्प्रदायवाद, अमीरी और गरीबी के बीच की दूरियाँ और ऐसे में जी रहे आदमी की मनःस्थिति के बारीक ब्यौरे हैं? मनुष्य के द्रोह, प्रेम, वेदना, ह ब ी, भूख पर कितनी रचनाएँ लिखी गईं? जीवन और मृत्यु के बीच इतना कुछ अपूर्व और अद्वितीय घटित हो रहा है कि दोनों की परिभाषाएँ बदल गई हैं, हरएक का जन्मार्थ और मृत्यु-अर्थ आज अलग-अलग है। आपदाग्रस्त समाज और व्यक्ति की समस्याएँ, अनुभव और प्रसंग होते हुए भी लेखक चन्द पुरानी या प्रचलित कथ्य-सीमा में ही क्यों घूम रहा है?

अब वह समय गया जब हम संवेदना को पक ने में अधिक वक्त लेते थे। अब समय को सीधे संवेदों में पक ने की गति यदि तेज नहीं की गई और ज़्यादा अमूर्तों का आश्रय लेकर जटिल उ ाने भरने और कालजयी होने का थोथा अभिमान पाला गया, तो साहित्य को अप्रासंगिक होने में देर नहीं लगेगी। ऐसे अमूर्तन का सुख अब छिनने वाला है, जो समय को मूर्त न करे और रचनाओं को एक-से साँचे में ढली पेश करे। समय वैविध्य की, नवीन अनुभवों की, ताज़ा अभिव्यक्ति की, गहराई और प्रखरता की माँग करता है; क्योंकि अब मनुष्य की समझ और सूचना बहुत बढ़ गई है।

ऐसे वक्त हमारे साहित्य में कतिपय अपवादों को छो कर आम तौर पर अवसाद छाया हुआ है। हमें वे कारक खोजने होंगे, जिनके सहारे हम पूरी सतर्कता से अपने समय को ऐसा रचनात्मक अवदान दे सकें, जिससे साहित्य-क्षेत्र का अवसाद दूर हो। हम केवल हिन्दी-समाज की साहित्य के प्रति उदासीनता का विलाप तरह-तरह से करने लगे हैं कि अब लोग इसे साहित्य की नियति और निष्फलता से जो ते हैं। विदेशों में विधाओं की मृत्यु-घोषणा की जो प्रतिध्वनियाँ हमारे यहाँ हुई हैं, उनमें भी इस हताशा का दबाव ही अधिक है। परंतु यदि लेखक, प्रकाशक, पत्र-पत्रिकाएँ और साहित्यकर्मी पाठक की उदासीनता के बारे में आत्मावलोकन करें, तो शायद इन कारणों के मूल को पहचान कर इनके समाधान में भी प्रवृत्त हो सकते हैं।

पाठक की कमी से खिन्न पत्र-पत्रिकाओं से अगर हम पूछें कि क्या अब वैसी या उनसे अच्छी पत्रिकाएँ उस परिमाण में निकल रही हैं, जैसी निकलती थीं? **धर्मयुग, दिनमान, सारिका, कल्पना, सरस्वती के पाठक उनके अन्तिम काल में ही सहसा क्यों बिला गए थे?** क्या इसका कारण उन्हीं पत्रिकाओं में निहित नहीं था? और क्या उनके बंद होने के बाद बढ़ती जनसंख्या के परिमाण में वैसी समर्थ, उदार, साहित्यनिष्ठ, लोकव्यापी पत्रिकाएँ निकल रही हैं? क्या वे निष्पक्षतापूर्वक श्रेष्ठ लेखकों की खोज करती हैं? वैज्ञानिक प्रगति के दौर में चीज़ों और यंत्रों में नित नये सुधार होते हैं और एक-से-एक बेहतर विकल्प प्रस्तुत किए जाते हैं। क्या ऐसा कुछ हमारे साहित्यिक उद्यम में हुआ? उदाहरण के लिए क्या पाठकों को हमने नई शैली में तैयार करने के लिए अपने आचरण में सुधार किया? शिकायत अगर प्रकाशक को है, तो पूछा जा सकता है कि वे रचनाओं के चयन में उतनी खोज-बीन और कठोरता बरतते हैं? क्या अच्छे से अच्छा साहित्य प्रकाशित करने की उनमें हो है? (अगर हो है, तो बेहतर प्रस्तुति की।) क्या उनमें भ्रष्ट करने वाले प्रलोभनों से दूर रह सकने की तत्परता है? कहीं उनकी दिलचस्पियाँ उन लोगों और संस्थानों में तो सिमट नही गई हैं, जो उन्हें थोक बाज़ार देते हैं? (इसके बदले उन्हें क्या कुछ नहीं करना प ता है और कैसे-कैसे समझौते नहीं करने प ते हैं। जिनमें प्रभावशाली लोगों की घटिया पुस्तकें प्रकाशित करना भी शामिल है।) जब प्रकाशक मूल्य निर्धारित करते हैं, तो क्या उन्हें ध्यान रहता है कि वे पुस्तकें किनके लिए प्रकाशित कर रहे हैं और कि यह कप ा या लोहे का धंधा नहीं है, साहित्य का प्रकाशन है? इसमें सेवा भी एक 'मूल्य' होता है। इस मूल्य की चिन्ता क्या उन्हें है? जो लेखक पाठक की उदासीनता को लेकर बहुत मुखर हैं, क्या कह सकते हैं कि वे या उनके कई सहकर्मी विशिष्ट निजी प्रयोग, उलझी आत्मनिष्ठ उक्तियों और मित्र-मण्डली की सराहना के बाहर निकल कर ब` पाठक-वर्ग की प्रतिक्रियाओं की सुध लेते हैं? क्या उन्हें सम्प्रेषण की वैसी चिन्ता है, जैसी होनी चाहिए? कहानियाँ और उपन्यास - जो साहित्य में अभिरुचि का प्रमुख माध्यम हैं; पहले प्रांत-प्रांत की आंचलिक भाषाओं के उपयुक्त प्रयोग में अंतर हैं। संवादों की सहजता या परिवेश-निर्माण के नाम पर लेखक, पाठकों से आख़िर कितनी बोलियाँ और अंचलों की भाषाएँ जानने की उम्मीद करते हैं? क्या ऐसी विधि नहीं निकाली जा सकती थी कि स्वाभाविकता भी बनी रहे और पाठ-बाधा भी पैदा न हो?

किसी समय पर जैसे वह ढर्रा पर चल प ा था, वैसे ही आज बाज़ार के प्रभाव में एक ऐसी मिश्रित भाषा चल प ी है, जिसमें कहीं-कहीं तो यह खोजना प ता है कि इसमें हिन्दी कहाँ है? इस भाषा का प्रयोग न केवल अखबारों में निर्दयता से हो रहा है, बल्कि लेखक भी इस भाषा का प्रयोग करने लगे हैं। प्रचार-माध्यमों और साहित्य की भाषा में कोई अंतर न हो, तो पाठक साहित्य के पास भाषा के लिए भी क्यों जाएगा? और जहाँ तक साहित्य के प्रति लोक-रुचि का प्रश्न है, यदि कहानी-जैसी रोचक विधा भी कथा-रस को ख़ारिज करने के बाद संवेदना और संज्ञानमूलक जिज्ञासा की भी उपेक्षा करने लगे और किसी स्थानापन्न नई विधि की खोज न करे, तो पाठक उसे भी क्यों पढ़े? कुछ लेखक फूह पन, अश्लीलता और गाली-गलौज़ को ही यथार्थ का हथियार कहने लगे, तो क्या यह मान लिया जाए कि **भाषा की व्यंजना-शक्ति बेमानी हो गई है?** उधर वैचारिक आलेखों में प्रखरता, गहराई, नवीन उत्खनन और सर्जनात्मक रुचियों की ओर कितने लेखक ध्यान देते हैं? एक जैसी बहस, एक रस अभिव्यक्ति, ठस भाषा के साथ ही यदि नवीनता आदि का अभाव हो, तो क्या यह प्रस्तुति साहित्य की उर्वरता के पक्ष में जाती है? विश्व में इतना कुछ घटित हो रहा है, नया और अपूर्व, मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों में बहुत-से परिवर्तन आ रहे हैं; संवेदना की प्रणालियाँ, बोध और आशय तक बदले हैं, ज्ञान की अज्ञात दिशाएँ खुली हैं, पुरानी समस्याएँ विकट

रूप में नए ढंग से सामने आई हैं। यानी साहित्य के सामने ढेरों कथ्य उम आये हैं। वे पाठक की चिन्ता और दिलचस्पियाँ भी हैं; इसलिए उससे जु ने का सेतु हैं। क्या साहित्य भी इनसे जु ने की कोशिश कर रहा है? बाज़ारू माध्यम और बाज़ारू संचार-साहित्य के लिए ही नहीं, जीवन के लिए भी चुनौती बन चुके हैं - इनका उत्तर क्या साहित्य के पास है? साहित्य यद्यपि बनाई हुई चीज़ होती है, परंतु कपटी माध्यमों की तरह नहीं, उसकी कलात्मकता जीवन की निष्कपट सच्चाई खोजने का माध्यम है, उसे ढँकने का नहीं। इसलिए साहित्य आज भी एक अनिवार्य सत्ता है। लेकिन अब मनुष्य 'पक्षधरता' साहित्यकार से कहीं कुछ गहरा, कुछ विशेष, कुछ अप्रत्याशित माँग रहा है। क्योंकि विपदाओं और सम्पदाओं के मुखौटे बदल चुके हैं। इसलिए पाठक की यह अपेक्षा अनुचित भी नहीं कि साहित्य उसे वहाँ ख ा मिले, जहाँ उसे ज़रूरत है। हिन्दी का पाठक पढ़ नहीं रहा, या पढ़ना नहीं चाहता, यह कहना शायद सही नहीं है। वह हिन्दी के मौलिक साहित्य की तुलना में अनूदित कृतियाँ अधिक पढ़ रहा है, हिन्दीतर नाटकों के हिन्दी रंगमंच पर सर्वाधिक प्रयोग होते हैं। क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में ही शायद बहुत-से प्रश्न छिपे हैं, जो हिन्दी-सर्जना से आत्मान्वेषण की अपेक्षा रखते हैं।

इसका अर्थ किसी गहन निराशा की ओर संकेत करना नहीं है, क्योंकि आज का हिन्दी-लेखन कुल मिलाकर अपने गतिमान इतिहास से पीछे नहीं है। फिर भी उससे बहुत अपेक्षाएँ हैं; क्योंकि उसके पास ब े परिमाण में रचनाशील-मानस है। परंतु यहाँ एक दूसरी समस्या भी है, इसे आप प्रचार-प्रसार-प्रकाशन की त्रुटियाँ कह लीजिए या शिविरबद्धता; हिन्दी का बहुत-सा अच्छा साहित्य या तो भी में खो गया है या अच्छे साहित्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित नहीं करने दिया जाता है। इससे हमारा बहुत-सा दुर्लभ साहित्य अँधेरा भोग रहा है; और पाठक अकारण अपने साहित्य की दरिद्रता के हीनता-बोध से ग्रस्त होता जा रहा है।

हिन्दी में अनेक कई प्रतिभाएँ जन्म ले रही हैं। हालाँकि उनमें से बहुतों पर कम ध्यान दिया जा रहा है और कुछ पर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा है। ये दोनों ही स्थितियाँ सम्यक् नहीं हैं। कम पानी से भी पौधे मरते हैं और अधिक पानी से भी। जिन्हें शीघ्र यश-सम्मान मिल जाता है, वे भी असमय समाप्त हो जाते हैं और जिन प्रतिभाओं को कोई अवसर नहीं मिलता, वे भी घुट जाती हैं। सबसे सही मार्ग शायद यही होगा कि उन्हें प्रकाशन के उचित अवसर मिलें। क्योंकि नई प्रतिभाएँ, नये युग की अपेक्षाएँ शायद अधिक सार्थक ढंग से पूरा कर सकती हैं - क्योंकि अन्ततः समस्याओं का और उनका जन्म एक ही समय-केन्द्र से हुआ है। परंतु यहाँ भी हमें सच्चे लेखकों और प्रायोजित लेखकों में भेद करना होगा। हिन्दी-साहित्य के वास्तविक पाठक का मानस इतना परिपक्व है कि अब उसे कमतर साहित्य न तो लुभाता है, न वह उसे प्रोत्साहित करने की मनःस्थिति में है। यद्यपि यह पाठक तुलनात्मक जनसंख्या में कम है, परंतु पारखी और निर्णायक है। न यह खोया है, न उदास है; यह प्रतीक्षातुर है। इसी की तुला पर साहित्यिक उपक्रम तोलने पर शायद अभावों का पता भी चल सकेगा और दिशाओं का भी।

हिन्दी के पाठकों के जिज्ञासातुर मानस को ध्यान में रख कर हमारे सामने यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि हिन्दी में ज्ञानात्मक साहित्य कितना और कैसा है? हिन्दी का अधिकांश क्षेत्र तो ललित साहित्य ने ही घेर रखा है; जब कि कोई भाषा सर्जनात्मक साहित्य लिख कर ही जीवित नहीं रहती, उसमें विविध अनुशासनों और विधाओं का ऐसा साहित्य भी होना चाहिए, जो उस भाषा-मानस का मानक बन सके। जब कि यह क्षेत्र निरंतर सिकु ता जा रहा है और यह और भी दुःख की बात है कि स्वयं हिन्दी भाषी अपने ज्ञानात्मक साहित्य-लेखन का विकल्प हिन्दी की अपेक्षा अँग्रेजी चुनता है। अँग्रेजी का विश्व-व्यापी बाज़ार है, वहाँ पैसा है, यश है, मान है - सब कुछ है। पर वह आत्म-चेतना, राष्ट्रीयता, आत्म-गौरव, मातृभाषा-प्रेम, जन-चेतना कहाँ है, जिसके कारण आज़ादी के बाद बी.बी.सी. पर साक्षात्कार चाहने पर गाँधी ने कहा था कि, 'दुनिया को ख़बर कर दो कि गाँधी अँग्रेजी नहीं जानता, गाँधी अँग्रेजी भूल चुका है।' गाँधी की यह तीखी प्रतिक्रिया इसलिए थी कि वे महसूस कर रहे थे कि राजनीतिक स्वाधीनात देश की सम्पूर्ण स्वाधीनता नहीं है। भाषाई गुलामी से मुक्त किए बिना देश इसकी पराधीनता की गिरफ़्त में आ जाएगा।

आज़ादी से पहले एक बार गणेश शंकर विद्यार्थी ने कहा था, 'मुझे देश की आज़ादी और भाषा की आज़ादी में से किसी एक को चुनना प े, तो मैं निःसंकोच भाषा की आज़ादी चुनूँगा, क्योंकि मैं फायदे में रहूँगा। देश की आज़ादी के बावज़ूद भाषा गुलाम रह सकती है, लेकिन अगर भाषा आज़ाद

हुई, तो देश गुलाम नहीं रह सकता।' स्वतंत्रता के बाद कितने नेताओं ने भाषा से आज़ादी के इस रिश्ते को पहचाना?

इस संबंध में मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाना चाहता हूँ कि १८५४ में चार्ल्स वुड ने जब भारत में अँग्रेजी शिक्षा संबंधी आदेश प्रसारित किया था, तो उसके अनेक पहलुओं में अपने काम के नौकरशाह तैयार करने के साथ भारतीय लोगों में से कुछ लोगों को पहले डी-क्लास (वर्ग-पृथक्) और फिर डी-नेशन (देश-पृथक्) कर अपने अनुकूल बनाना भी था। परंतु उसका अंतिम और महत्वपूर्ण उद्देश्य भारत की जनता में सुख-सुविधा की ऐसी हो जगाना था, जिससे ब्रिटिश माल की खपत भारत में हो और नई-नई चीज़ों का बाज़ार तैयार हो सके। विदेशी भाषा के माध्यम से उपभोक्ता-संस्कृति को निर्मित कर मानसिक रूप से देश को गुलाम बनाने की वह नींव थी। साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी शक्तियाँ अपनी भाषा को किसी पवित्र उद्देश्य से नहीं लाई थीं। वह भाषा के माध्यम से आंतरिक दासता को स्थायी कर अपना राजनीतिक एवं आर्थिक स्वार्थ साधना चाहती थीं। यही तो मैकाले ने भी चाहा था।

यह बात आज हमारे लिए चिन्ता की इसलिए है कि बाज़ार बहुराष्ट्रीय कंपनियों, मल्टीपलेक्सों, भव्य होटलों और विशालकाय मॉलों के ज़रिए जिस ठाठ-बाट से भारत में चला आ रहा है - वह उसके आकाओं की वर्षों पहले सोची-समझी चाल का परिणाम है। तब उन्हें बाज़ार के इस स्वरूप का भले ही पता न हो, पर उनके सामने अपना स्वार्थ स्पष्ट था। आज वे ही छद्म भूमण्डलीकरण और झूठे उदारवाद के ज़रिए देश को 'बाज़ार' और नागरिक को 'ग्राहक' बना रहे हैं, उसे बाक़ायदा एक शिक्षा दे रहे हैं - 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत' - घी पियो भले ही तुम्हें कर्ज़ लेना प`। इस शिक्षा के लिए उसे ऐसी भाषा चाहिए थी, जिसके भीतर राष्ट्रीयता के कीटाणु न हों। और ज़ाहिर है, यह भाषा हिन्दी के विस्थापन के बिना नही आ सकती थी।

यह संकेत करना चाहता हूँ कि हिन्दी के विस्थापन में समस्त भारतीय भाषाओं का विस्थापन छिपा है। देशी भाषाओं और हिन्दी के बीच परस्पर आशंका ही उनका वह अस्त्र है, जिससे वे इस विभेद-मूलक प्रवृत्ति में सेंध लगा सकें। इसलिए देशी भाषाओं को भी अँग्रेजी के भयंकर आक्रमण से सावधान होकर हिन्दी के संघर्ष में भागीदार होना होगा। इसके बिना बचाव का कोई रास्ता नहीं है। **अँग्रेजी ठीक समझती है कि हिन्दी को फतह कर लेने के बाद देशी भाषाएँ तो स्वतः विजित हो जाएँगी।**

हिन्दी की बोलियों से संबंधित एक गंभीर समस्या की ओर भी मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। हम जानते हैं कि बोलियाँ भाषा की शक्ति का स्त्रोत होती हैं - क्योंकि वे जन-जीवन में जन्मती, पलती और साँस लेती हैं - यह 'जन' ही तो भाषा का जनक है। बोलियों का स्वभाव, शब्द, मुहावरे, गीत, कथाएँ, कहावतें - सब कुछ भाषा की दुर्लभ निधियाँ हैं। यदि आदिवासी बोलियों के गीतों को ही लें, तो देखेंगे कि उनमें जो अकृत्रिमता, आवेग, गति, उतार-चढ़ाव, वैविध्य और प्राण-शक्ति है, उसकी सानी परिनिष्ठित भाषा के गीतों में नहीं मिलेगी। वे कई बार फीके, घिसे हुए और अनुर्वर लगते हैं, वे यदि इनसे ज़िन्दगी, मस्ती और ताज़गी ले सकें, तो अपना ही भला करेंगे, क्योंकि जन-भाषा की यही सच्ची विरासत है। केन्द्र में साहित्य अकादमी के स्तर की बोलियों की कोई अकादमी नहीं है, तो क्यों नहीं है? प्रयास, साहित्य अकादमियों में बोलियों के प्रवेश के लिए किये जाते हैं, जब कि उनकी समृद्धि और पारम्परिक निधि के संचयन का अतिरिक्त प्रतिष्ठान होना चाहिए, जहाँ वे अपनी पूरी आभा में खिल सकें और पूरी दक्षता में पनप सकें।

परंतु ऐसे प्रयास करने की अपेक्षा हम ऐसे नकारात्मक प्रयास कर रहे हैं, जो हिन्दी भाषी समाज को तेजी से खण्डित करते हैं। **बोलियों को भाषा से जो ने और पृथक् करने की प्रवृत्ति चिन्ता की हदों को छू गई है।** चाहे यह उपेक्षा की प्रतिक्रिया हो या पृथक् नेतृत्व की आकांक्षा, कुल मिला कर यह प्रवृत्ति न केवल हिन्दी की आवाज़ को कमज़ोर कर रही है, बल्कि बोलियों में भी परस्पर विद्वेष जगा रही है। **टूटने का कहीं अंत नहीं होता।** क्षणिक उत्तेजना सदियों के सामंजस्य को तो देती है, और जब यह सिलसिला शुरू हो जाता है, तो इसका कहीं अंत नहीं होता। जन-गणना में मातृभाषा की जगह बोलियाँ लिखवाने के लिए उकसाना इसकी चरम-सीमा है।

हर हिन्दी भाषी की कोई-न-कोई बोली है, लेकिन राष्ट्रीय संदर्भ में वह एक विराट् भाषा-समाज का अंग है। इसे भूल कर यदि हम अपनी मातृभाषा बघेली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली,

राजस्थानी, ब्रज, मालवी या कोई और दर्ज करवाते रहेंगे, तो हम सबकी भाषा - हिन्दी तो कहीं रहेगी ही नहीं, वही त्रासदी घटित होगी, जो नूर लखनवी के इस शेर में कही गई है -

'इतने हिस्सों में बँट गया हूँ मैं,
मेरे हिस्से में कुछ बचा ही नहीं।'

हिन्दी के भाषिक समाज को इस तरह अनाम कर देने का क्या नतीज़ा होगा? न सिर्फ़ उसकी शक्ति, आवाज़; बल्कि राष्ट्रीय अस्मिता भी खण्ड-खण्ड हो जाएगी क्योंकि हिन्दी अपनी बोलियों का ही नहीं, राष्ट्र का सेतु है। **यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हिन्दी साहित्य या ज्ञान के बल पर नहीं, बहुसंख्यक जनता के बल पर राष्ट्रभाषा है। इसके छिन जाने या कमज़ोर प ने पर समूचा देश गूँगा हो जाएगा,** खासकर देश की बहुसंख्यक गरीब जनता, जिसके लिए न अँग्रेजी स्कूल हैं, न द्विभाषिक बिचौलिए।

अँग्रजी जिस जगह पहुँची है, वह प्राथमिक शिक्षा की क्रमबद्ध योजना के माध्यम से पहुँची है। आज़ादी के तत्काल बाद देशी भाषाओं को राष्ट्रभाषा के नाम पर झग ता छो कर वह चुपचाप उस पीढ़ी को तैयार करने में जुट गई थी, जो आगे चल कर स्वयं ही उसका उद्देश्य सिद्ध कर देने वाली सिद्ध होगी, वही हुआ। मध्य, निम्न-मध्य वर्ग और यहाँ तक कि गरीबों के बच्चे भी आज अँग्रेजी स्कूल में शिक्षा पा रहे हैं - वे शेष जनता से वर्ग-पृथक् (डी-क्लास) हो चुके हैं, यानि एक वर्ग वह, जो अँग्रेजी पढ़ा है और दूसरे में शेष सारी जनता, जो अँग्रेजी नहीं पढ़ी है। ज्ञान, योग्यता, सेवा के अवसर सभी कुछ भाषा में केन्द्रित कर दिए गए हैं। डी-क्लास होने के बाद उनके भीतर से राष्ट्रीय भावना चुन-चुनकर बाहर निकालना आसान होता है। इस तरह उसे डी-नेशन किया गया। वैसे भी भूमण्डलीकरण ग्राहकों को देश-पृथक् करने की ही एक प्रक्रिया है - सभी राष्ट्रों के लिए नहीं, उन्हीं राष्ट्रों के लिए, जिन्हें खुले बाज़ार, उदारतावाद, भूमण्डलीकरण - जैसे नामों से शोषित करना और गुलाम बनाना है। अँग्रेजी भाषा में ग्राहकों को स्थानान्तरित कर वैश्वीकरण की स्वाभाविक प्रक्रिया में ढाल सकना सहज सम्भव होता है।

शिक्षा के बाद बहुसंख्यक जनता की भाषा को भाषा-पृथक् (डि-लिंग्वा) बनाने के लिए अँग्रेजी एक योजनाबद्ध शैली अपना रही है। वह हिन्दी में (और भारतीय भाषाओं में भी) अँग्रेजी शब्दों का परिमाण बढ़ाने की कोशिश कर रही है। उधर नामपट्टों (होर्डिंग्ज़), प्रचार-माध्यमों में वह हिन्दी को रोमन में लिख रही है। **'Pure Bhi Aur Poora Bhi'** जैसे प्रयोगों से वह प्रदर्शित कर रही है कि देखो अँग्रेजी ने हिन्दी अपना ली, अब तुम क्यों कोताही कर रहे हो ! दरअसल वह रोमन में हिन्दी और भारतीय भाषाओं को लिखने के एक पुराने सपने को पूरा करना चाहती है। **जब कि नागरी लिपि हमारी भाषा की एक ऐसी लेखन-पद्धति है, जिसकी तुलना दुनिया की किसी लिपि से नहीं की जा सकती। संसार का कोई भी उच्चारण या शब्द नागरी में लिखा जा सकता है।** बिल गेट्स ने कहा है कि 'बोल कर लिखाने की प्रविधि जब संसार में चलेगी, तो केवल नागरी ही ऐसी लिपि होगी, जिसमें सही भाषा लिखी जा सकेगी।' हमें अपनी लिपि से पृथक् करते हुए बाज़ार इस बात पर विचार नहीं करता और अद्वितीय लिपि से हमें ही नहीं, विश्व को वंचित करना चाहता है; क्योंकि उसे अपनी वस्तुओं का गुलाम बनाने के लिए अपनी भाषा और अपनी ही लिपि चाहिए। भाषा और लिपि के इस आतंकवाद से बचना दुनिया भर की भाषाओं के लिए चिन्ता का विषय है। सूचना-प्रौद्योगिकी, जो विश्व-बाज़ार का एक ब ा हिस्सा है - ने अपने माध्यमों में डी-नेशन किए लोगों के द्वारा अँग्रेजी प्रयोग को इस हद तक बढ़ा दिया है कि धीरे-धीरे क्रियापदों को छो कर शेष सब अँग्रेज़ी में लिखा, बोला जाने पर भी वह हिन्दी लिखने का भ्रम बनाए रखता है।

हिन्दी के विस्थापन की सबसे ब ी चाल है - लिखित भाषा के रूप में अँग्रेजी और वाचिक भाषा के रूप में हिन्दी को बचाए जाने की कोशिश। उद्योगों, सरकारी कार्यालयों, स्कूलों, वस्तुओं के नामों, नामपट्टों में सर्वत्र लिखी गई भाषा अँग्रेजी होती है, हिन्दी केवल बातचीत की, मनोरंजन की, जनता को प्रचार-माध्यमों से मूर्ख बनाने की भाषा रह गई है। उसका स्पष्ट परिणाम होगा कि हिन्दी बोली बन कर रह जाएगी और जो भाषा सिर्फ़ बोली जाती है, लिखी-पढ़ी नहीं जाती, उस भाषा के भाषियों को लोग अपढ़ कहते हैं, ठीक वैसे ही - जैसे लिखने-पढ़ने में असमर्थ लोगों को। अँग्रेजी का सारा कर्मकाण्ड केवल इसलिए है कि एक अरब से अधिक जनसंख्या वाले विश्व के छठवें भाग को अपने बाज़ार से आक्रान्त कर ले। वैसे भी दुनिया के बाज़ारों में भारत चौथे नम्बर का सुरक्षित बाज़ार

है। यहाँ कम जोख़िम, अधिक लाभ और कम अशांति है। अधिक कच्चा माल और सस्ते मज़दूर यहाँ मिलते हैं और हम मुदित हैं कि अहा ! हिन्दी बढ़ रही है, झख मारकर हिन्दी का प्रयोग हो रहा है। परंतु उसके भीतर छिपी अँग्रेजी वैसे ही बढ़ रही है, जैसे कैंसर बढ़ता है।

जब सब जगह बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आकर्षित करने के लिए कई तरह के 'सांस्कृतिक' कार्यक्रम हो रहे हों, विदेशी निवेश को हथियाने की हो चल रही हो, ऐसे में विज्ञापनों में, दूरदर्शन के चैनलों में, धारावाहिकों में, संगणक (कम्प्यूटर) में, मोबाइल में, यहाँ तक कि विदेशों में हिन्दी के बढ़ते प्रयोग से प्रसन्न होने की बात नहीं है। क्योंकि यह हिन्दी नहीं बढ़ रही है। बाज़ार आगे बढ़ कर कथित भारतीय भाषा के माध्यम से देश को खरीद रहा है। दुर्भाग्य की बात है कि जिस स्वाधीनता के लिए हमने पराधीनता की भाषा को छो कर स्वाधीनता की भाषा अपनाई, उसे ही आज हम हिन्दी के माध्यम से बाज़ार के हाथों नीलाम कर मानसिक पराधीनता की भाषा बनाए दे रहे हैं।

बाज़ारू हिन्दी से हिन्दी को नहीं, बाज़ार को लाभ हो रहा है; क्योंकि भाषा यदि लाभान्वित होती है, तो वह अपनी 'ज ों' से जु कर अपनी सांस्कृतिक-बौद्धिक-सर्जनात्मक सम्पदा का संरक्षण और अभिवृद्धि करती है; जब कि हिन्दी के माध्यम से अँग्रेजी को अनिवार्य बनाया जा रहा है।

बार-बार समझाया जा रहा है कि अँग्रेजी कितनी ज़रूरी है। उसकी बैसाखी के बिना हिन्दी या कोई भाषा चल ही नहीं सकती। तो लोग सोचते हैं कि क्यों न सीधे अँग्रेजी को ही सीखा जाए। आज जगह-जगह अँग्रेजी सिखाने की दुकानें खुल गई हैं, उनमें नई तरह के क्लोन तैयार किए जा रहे हैं। समझाया जा रहा है कि व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, नौकरी-रोजगार सबके लिए अँग्रेजी रामबाण है।

दुर्भाग्य से बाज़ार की मनोवृत्ति से देश का अभिजन इस तरह प्रभावित है कि वह इस नई तरह की मनोवृत्ति का पैरोकार बन गया है, इसीलिए उस भाषा का भी, जो इस मनोवृत्ति से जु ी है। आज का सर्वाधिक प्रसार-माध्यम फिल्म और दूरदर्शन बाज़ार और बाज़ारू माफिया के आधीन है। सामाजिक, मानवीय, वैचारिक विषय-वस्तु वहाँ से प्रायः गायब है। हिन्दी फिल्मों के कालकारों से लेकर निदेशक तक अपनी बातचीत अँग्रेजी में करते हैं। यहाँ तक कि हिन्दी फिल्म की पाण्डुलिपि रोमन में तैयार होती है। जिस भाषा ने उन्हें सामाजिक और आर्थिक रूप से समृद्ध किया, लोकप्रियता के शीर्ष पर बिठाया, उसके प्रति उनकी यह दृष्टि है।

हिन्दी और भारतीय भाषाएँ आज ऐसे हम्माल और हरकारे में बदल गए हैं, जिनकी पीठ दूसरों का माल और जिनके हाथ दूसरे की चिट्ठियाँ ढो रहे है। खेद तो यह है कि लोगों में ऐसी भावना घर कर गई है कि यही भाषा सहज, स्वाभाविक और व्यावहारिक बोलचाल की है। जब कि इस बात पर विचार किया जाना चाहिये कि बोलचाल की या वाचिक भाषा भी बाज़ार द्वारा थोपी नहीं जाती, बल्कि लोक के सहज, स्वाभाविक, आत्मिक और सांस्कृतिक संबंधों के बीच सहज रूप से विकसित होती है।

जो लोग हिन्दी की उदारता की सीख देते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि हिन्दी कोई ज भाषा नहीं है, गतिशील भाषा है; उसने हजारों आयातित और नए शब्द अपनाए हैं। पिछले दिनों तैयार कोशों में हिन्दी में हजारों शब्द जु गए हैं। इसलिए भाषाई आवक के लिए हिन्दी का द्वार सदा खुला रहता है; तभी वह इतनी समद्ध हुई है। परंतु जो कॉर्पोरेट भाषा आ रही है, वह प्रायोजित और आरोपित है और उसका उद्देश्य भाषा की अभिवृद्धि नहीं है। इस अंतर को भलीभाँति समझा जाना चाहिए। कॉर्पोरेट भाषा बनाना उदारतावादी बाज़ार की शैली का अंग है। क्योंकि बाज़ारवाद में जो कुछ भी बनाया जाता है, वह प्रायोजक की माँग, इच्छा और आवश्यकता के अनुकूल बनाया जा रहा है - टी.वी. ऐसे ही कार्यक्रम बना रहा है, अखबार ऐसी ही भाषा लिख रहा है, सरकार भूमि का अधिग्रहण इसीके उद्देश्य से कर रही है। **परंतु जब हम बाज़ार के अनुसार सब कुछ बनाते हैं, तो इतिहास, स्वाभिमान, अस्मिता सब खो देते हैं।**

हर युग में राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप अलग होता है। मुझे लगता है कि इस समय दूसरी और तीसरी दुनिया को अपनी गिरफ्त में जक ने वाले बाज़ारवाद के प्रतिरोध का समय है। इस प्रतिरोध के निश्चय ही विवेकपूर्ण होने की ज़रूरत है। यह प्रतिरोध शोषण के विरुद्ध न हो कि उस खुले आदान-प्रदान के विरुद्ध, जिसमें संतुलन हो। दूसरी बात यह है कि मुक्त अर्थव्यवस्था के हाथों राष्ट्र-राज्य के समाजवादी चेतना से सम्पन्न राजनीतिक दायित्व को भी नज़र-अंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। याद रखना चाहिए कि बची-खुची आत्मनिर्भरता और निजी बचतों और ऋण ले करके भी घी पीने की

मनोवृत्ति ने हमें मन्दी के भयानकतम प्रभाव से बचाया है और यह सीख भी दी है कि पूँजीपति देशों की मनोवृत्ति कैसे हमें अकारण उस विपत्ति में झोंक देती है, जिसके लिए हम उत्तरदायी नहीं होते।

भाषा और साहित्य के संदर्भ में इन चर्चाओं का अर्थ यह है कि हर युग में एक लहर चलती है, जो सब कुछ को अपनी गिरफ्त में ले लेती है। उससे भाषा, साहित्य, जीवन कुछ नहीं बचता। इसलिए साहित्य और भाषा पर विचार करते हुए हमें उन कारकों पर भी विचार करना होता है, जो प्रकारान्तर से हमारी बौद्धिकता और रचनाशीलता को प्रभावित करते हैं।

यहाँ मैं कुछ बातों को स्पष्ट करना चाहता हूँ। एक तो यह कि हिन्दी का किसी भाषा से विरोध नहीं है, अँग्रेजी से भी नहीं; क्योंकि सभी भाषाएँ सरस्वतियाँ हैं। अँग्रेजी विश्व की समृद्ध भाषा है, उससे बैर करने का कोई अर्थ नहीं है। ऊपर के सारे प्रसंग मे जो मूल बात कही गई है, वह यह है कि भारत में हिन्दी ही बोलचाल, राज-काज और व्यवहार की भाषा हो सकती है। क्या यह विडम्बना नहीं है कि एक कामचलाऊ 'लिंक लैंग्वेज़' ने वास्तव में सम्पर्क भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया है और ज्ञान, कर्म और भाव के क्षेत्र को घेर कर हमें मानसिक रूप से अपने अधीन कर लिया है। **अगर किसी युग में अँग्रेजों से मुक्ति का संघर्ष राष्ट्रीय था, तो आज अँग्रेजी से मुक्ति का संघर्ष राष्ट्रीय है, और मुक्ति उसी अर्थ में जिसका उल्लेख हुआ है।** एक अन्य महत्व की बात यह है कि यहाँ अँग्रेजी का प्रयोग अँग्रेजी मानसिकता के लिए है, जिसका संबंध अँग्रेजों से नहीं है। अँग्रेजी इस समय भारतीयों द्वारा भारत में प्रचलित की जा रही है और थोपी जा रही है। **यह अँग्रेजी मनोवृत्ति ही है, जो अब यह कहने लगी है कि अँग्रेजी को एक भारतीय भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जाए** - जो प्रक्रिया चल रही थी, उसका फलितार्थ तो यही निकलना था।

मैं यह भी स्पष्ट करना चाहता हूँ कि हिन्दी की समस्याओं में समस्त भारतीय भाषाओं की समस्या सम्मिलित है। क्योंकि सभी भारतीय भाषा एक ही नाव में सवार हैं। एक के कमज़ोर होने से दूसरी कमज़ोर होती है। अतः परस्पर रूप में भारतीय भाषाओं को सशक्त करने की ज़रूरत है। हिन्दी के बोली बन जाने के बारे में जो बात कही गई है, वह सभी भारतीय भाषाओं के बारे में है। जरा सतह एक इंच तो खोदिए; आपको विदित हो जायेगा कि सभी भारतीय भाषाएँ लिखित रूप में शिक्षा तथा अन्य कार्यकलापों से व्यावहारिक रूप से अपदस्थ कर दी गई हैं या स्वयंमेव हट रही हैं। इसलिए भारतीय भाषाओं का इस समय एक-जुट होना जितना आवश्यक है, उतना इतिहास में कभी नहीं था।

अन्त में मैं कहना चाहता हूँ कि उपर्युक्त चित्र किसी ऐसी नकारात्मकता का नहीं है, जिससे निराशा फैले। यह केवल सचेत रहने की आवश्यकता बताता है। यदि नकारात्मक की सृष्टि सम्भव है, तो सकारात्मक की क्यों नहीं है? रावण या कंस यदि कहीं जन्मते हैं, तो राम या कृष्ण के जन्म की संभावना से कैसे इंकार किया जा सकता है। यदि एक ओर मानव-सभ्यता ने स्वप्न देखे हैं, तो दूसरी ओर वह असम्भवताओं से टकरायी है और विपरीत स्थितियों के बीच उसने सृष्टि का नया इतिहास लिखा है।

अपने इस युग को ही ले लीजिए। लोगों ने इतिहास, साहित्य आदि की मृत्यु घोषित कर दी थी, जब कि उनकी जीवन्तता के हजारों प्रमाण मिले हैं और अन्ततः यह स्वीकार कर लिया गया है - मत्यु नहीं होगी न विचार की, न भाषा की, न साहित्य की, न इतिहास की - ये सब मनुष्य के जाग्रत स्वप्न हैं - ये नये-नये समीकरण में, अर्थ संपुंजों में, प्रत्ययों में पुनः जन्म लेते रहेंगे। स्लम डॉग के जमाल की तरह जो विष्ठा के गड्ढे में कूद कर जोश, पुरुषार्थ और उमंग के मैदान में निकलते हुए किसी अप्रत्याशित नायकी को हासिल करता है। इस तरह की विकृति, गन्दगी और घृणित स्थितियों को पार कर एक उत्तेजक, उत्प्रेरक सफलता के उजाले में प्रवेश करने वाले ही जीवन की विजय संभव बनाते हैं। तमाम विपरीतताओं को झेलते हुए मनुष्य के पुनः उभरने को संभव बनाने वाला यह विलक्षण प्रतीक है, जो कला और साहित्य को मनुष्य के नाभि-नाल से जो ता है।

हिन्दी हर युग में इस देश की आवाज़ रही है। आज उसके सामने एक नई पीढ़ी है, जिसके स्वप्न हरे हैं। वह त्वरित विश्व के साथ कदम मिला कर, बल्कि उससे भी आगे चलने को उत्सुक है। उसे अपनी भाषा में नवीनतम् ज्ञान, प्रौद्योगिकी, सम्मान, आत्मनिर्भरता, समृद्ध, जीवन-यापन और उत्कर्ष के भरपूर अवसर मिलना चाहिए। जीवन के समस्त आयामों का स्पर्श करते हुए प्रवहमान वायु की तरह करो ों के मानस में व्याप्त हिन्दी हम सबको अपनी रचनात्मक समृद्धि में भाग लेने को बुला रही है।

हिन्दी

नन्दलाल भारती

हिन्द में बह चली ऐसी हवा,
हिन्दी हुई ज़बान।
सौभाग्य हमारा हिन्दी भाषी,
भारत देश महान।।

हिन्दी है नब्ज़,
जन-जन को है प्यारी।
एकता समता की डोर,
हो हिन्दी राष्ट्रभाषा हमारी।।

हिन्दुस्तान मंदिरों का देश,
गंगा जो ती जहाँ आस्था।
घोलती फिज़ाँ में मिश्री,
हिन्दी एकता की है वास्ता।।

हिन्दी हिन्दुस्तान,
दुनिया में उजली पहचान।
हो पढ़त-लिखत दुनिया के आरपार,
हिन्दी हमारी आन।।

गढ़ती नित नव मिसाल,
हिन्दी भाषा हमारी।
ये हवाएँ, ये दिशाएँ,
पढ़ लेतीं नब्ज़ हमारी।।

भारती असि को मसि कर,
लिखे राष्ट्रभाषा की गाथा।
झूले हर ज़बान हिन्दी,
गूँजे धरा पर,
जय जय जय हे भारत माता....।।

मछली मछली कित्ता पानी

विनायक

छोटी मछली माँ से बातों-बातों में उलझ कर कहने लगी कि आख़िर वह उसे हमेशा गहरे पानी में ही क्यों लिये फिरती है, कभी उथले पानी में या फिर सतह पर क्यों नहीं ले चलती? माँ ने कहा कि उसकी माँ ने उसे ऐसा ही सिखाया है। छोटी मछली हँस कर बोली, 'तुम्हारी माँ की माँ ने भी शायद अपनी बेटी को ऐसा ही सिखाया होगा?' फिर बिदक कर बोली, 'लेकिन मैं ब ी होकर एक दिन ऊपर सतह तक जाऊँगी अवश्य, और अपनी बेटी को भी नसीहत के इस बंधन से मुक्त करूँगी। आख़िर, हमें भी तो देखना चाहिए ऊपर तल के बाहर की दुनिया क्या है।'

अंततः वह किशोरी एक दिन वयस्क हो गयी और माँ भी बन गयी। लेकिन सतह पर जाने की उसकी उत्कंठा अब भी यथावत् थी। और फिर तो एक दिन सचमुच वह ऊपर तल की ओर गयी और तिरते-तिरते तट के निकट भी पहुँच गयी। पीछे-पीछे उसकी अपनी अब किशोरी हो गयी बच्ची भी भागती पहुँच गयी।

अब मछली तट के निकट सतह पर आयी ही थी कि उसकी दृष्टि उस मनुष्य से टकरायी जो तीर से उसी पर लक्ष्य साध रहा था। मछली के पास पलट पाने का भी समय अब शायद नहीं रह गया था। वह बस अपनी बच्ची को आगाह करते जोर से चीखी, 'भाग बेटी, गहरे पानी में भाग, जल्दी. . . .' लेकिन बेटी माँ को यों छो जाने को तैयार नहीं हुई। और बस तभी सारा पानी रक्त से लाल हो उठा। घबराई हुई बच्ची माँ को खोजने लगी। उस रक्ताभ जल में माँ जाने किधर गुम हो गयी थी। वह छटपटाती, पागलों-सी, सतह के एकदम ऊपर भागी और आते ही किसी चीज़ से टकरा गयी। वह उसकी माँ ही थी। उसके निर्जीव हो रहे शरीर में बस स्पन्दन हो रहा था। वह माँ के शर-बिंधे शरीर को देख चीख़-चीख़ कर रोने लगी और बिंधे बाण पर सिर धुनने लगी। लेकिन माँ, जो हर पल बच्ची के कोमल मुख पर हज़ार चुम्बन ज ते नहीं थकती थी, निश्चल-सी पानी की लहरों पर बस बहती जा रही थी। जब वह कातर हो अपने नन्हे होंठ माँ के होठों पर ज़ोर से रग ने लगी तो माँ ने पल-भर को आँखें खोल दीं। वह रो कर चिल्लाने लगी, 'माँ, तुम उथले पानी में आख़िर क्यों आयीं?' माँ ने प्रयत्न करके उसके नरम होठों को एक बार चूमा, फिर धीरे से बोली, 'दुलारी, पानी उथला या गहरा नहीं होता। बस, कहीं शर होता है, कहीं शरीर।'

मुझमें कितना बचपना था

विनायक

मुझमें कितना बचपना था
भे ि ये को ख़ूँखार समझता था
समझता था शेर को हिंसक
और गैंडे को मोटी खाल वाला जानता था
उस दिन देखा भे ि ये में भूसा भरा था
और चुपचाप एक कोने में ख ा था
और खाल में तब्दील हो कर
शेर नीचे फर्श पर प ा था
गैंडे की सींग, नाक समेत
तख़्ते पर ज ी दीवार पर टँगी थी
और वे सोफे पर सौम्य बैठे थे
न ख़ूँखार न हिंसक दिख रहे थे
न कहीं पसरे प े थे
नाक उनकी कटी भी नहीं थी
और न कहीं टँगी थी
उनमें न तो भूसा भरा था
न कोने-अन्तरे कहीं ख े थे
ब ा आश्चर्य था मुझे
ब े होकर अपने ल कपन पर
और उन्हें देख कर
जो कुछ होता है जैसा
दिखायी क्यों नहीं देता वैसा
और जैसा जो कुछ नहीं होता
मान लेते हैं हम उसे क्यों वैसा !

विश्व के दादाओं

विजय तन्हा

अरे ओ !
विश्व के दादाओं
क्यों बना रहे हो
मिसाइलें और बम?
क्या ये कर पायेंगे
किसी की व्यथा को कम?
क्या ये दे पायेंगे
किसी गरीब
भूखे को रोटी
फुटपाथियों को छत?
नहीं, कदापि नहीं
हाँ,
इतना यकीन है
ये जब भी कभी
फट जायेंगे
तो विश्व का भूगोल
तहस-नहस कर जायेंगे
नष्ट हो जायेंगी
ब ी-ब ी इमारतें
तब काम नहीं आयेंगी
इबादतें
सब कुछ हो जायेगा
खण्डहर
नज़र आयेगा
मानव का अस्थि-पंजर
तब न होगा कोई
सिख, इसाई, हिन्दू, मुसलमान
मरने वाला होगा
इंसान, केवल इंसान।

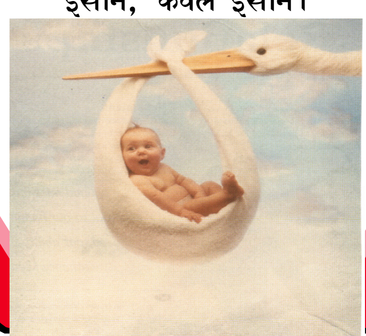

मातृ-छाया

विकेश निझावन

ऐ श्रुति ! तेरे ला ले भैया आ रहे हैं। भाभी ने ऊपर वाली खि की से नीचे झाँकते हुए कहा था।

'कौन, कब?'

'अरी कुन्नू भैया ! वही तो तेरे ला ले हैं न।'

'आपको कैसे पता?'

'फोन आया था। तेरे भैया से ही बात हुई है। मैं बताने के लिए नीचे आ रही थी।'

भैया यों अचानक ! पहले भी तो हमेशा ऐसा ही होता आया है। कब भैया अमरीका से यहाँ पहुँच जाएँ और कब यहाँ से वापिस चल दें, कुछ पता नहीं। पिछली बार तो हद हो गयी थी। बिना किसी सूचना के आधी रात को टपक प े थे। मैं तो गहरी नींद में सपनों के समन्दर में गोते लगा रही थी, जब मंगला भाभी ने आकर जगाया था - अरी उठ तो ! तेरे कुन्नू भैया आये हैं। पहले तो लगा कि कोई सपना देख रही हूँ। लेकिन मंगला भाभी के दो-तीन बार झिंझो ने पर मैं उचक कर बैठ गई थी। जरा अपने को सँभालती हुई ड्राइंग-रूम की ओर दौ ी थी - 'आप ! इस वक्त ! भैया से लिपटती बोली थी मैं।'

'क्यों, अच्छा नहीं लगा क्या?' भैया मुस्करा रहे थे।

'अरे बहुत अच्छा लग रहा है। मुझे तो यकीन ही नहीं हो पा रहा है।'

'अभी नींद में हो न इसलिए। परा, आँखों पर पानी के छींटे मार कर आ।'

अब तक मंगला भाभी ने सभी को जगा दिया था। कुन्नू भैया सबके चेहरों पर एक नज़र दौ ाते बोले थे 'अम्माँ नहीं जगीं क्या?'

उन्हें तो जान-बूझकर नहीं जगाया। रात ही ब ी मुश्किल से सो पायीं। नींद के लिए डबल-डोज़ देनी प ी। भाभी ने कहा तो कुन्नू भैया एकाएक बोले 'तुम तो उन्हें दिन में भी गोली दे देती होगी भाभी।'

कुन्नू भैया कह तो गये, जान मेरी निकल गयी। भाभी इस बात को पचायेंगी भला। भैया का यों मुँहफट होना सभी को असमंजस में डाल देता है। विनोद भैया तो कई बार नाराज़ भी हो चुके हैं।

'अच्छा, अब तुम जाकर सो जाओ। मैं भी थका प ा हूँ। सुबह उठ कर बातें करेंगे।' भैया उठते हुए सीधे अम्माँ के कमरे की ओर बढ़े थे।

अरे ! तू किधर जा रहा है?' मंगला भाभी ने रोका 'ऊपर छत वाले कमरे में आ जा। वहाँ ए. सी. भी लगा है।'

'नहीं भाभी, पहले ही कोल्ड हुआ प ा है। कुन्नू भैया बिना किसी की ओर पलटे बोले थे। सभी एक-दूसरे का मुँह ताकते रह गये थे। इस वक्त अम्माँ का कमरा किसी कबा खाने से कम न होगा। पिछले सात दिन से वहाँ झा ू भी लगा है कि नहीं, राम जाने। अर्चना भाभी कल ही तो नाक-भौं सिको कर कह रही थीं - 'अम्माँ के कमरे में तो घुसते ही मेरा दम घुटने लगता है।'

मंगला और अर्चना भाभी ही को क्यों, कुन्नू भैया इस बात के लिए मुझे भी तो दोषी ठहरा सकते हैं। उन्हें कैसे बयान करूँ कि सुबह पाँच बजे उठ कर तैयार हो अपना नाश्ता और दोपहर का टिफिन पैक कर मुझे स्कूल के लिए भागना प ता है। स्कूल भी तो कोई पास नहीं। दो बसें बदल कर उस गाँव की दो मीटर लम्बी पगडंडी पार करना ही अब मेरी ज़िन्दगी का ऐसा अध्याय बन गया है, जिसे मुझे रोज़ दोहराना प ता है।

अब तक तो सब ठीक चल रहा था। पिछले महीने भैया ने ब े स्पष्ट शब्दों में कह दिया था - 'मँहगायी बहुत बढ़ गई है श्रुति। बिजली का बिल पहले से दूना आने लगा है। अम्माँ की दवाइयों का खर्चा तीन गुना हो गया है। क्या ज़िन्दगी भर तुम्हारी यह तीन हज़ार की कॉन्ट्रीब्यूशन ही रहेगी? अगले महीने कम से कम पाँच हज़ार. . . .' पाँच हज़ार तो कुल स्कूल वाले ही देते हैं। तीन हज़ार

भैया को देने के बाद मेरे पास कितना बचा रहता है, मैं ही जानती हूँ। रात-भर रुपये-पैसों के आँक ों में उलझी रही थी। लेकिन जीवन में कितनी ऐसी समस्याएँ होती हैं, जिनका हल खुद-ब-खुद निकल आता है। ऐसे में ईश्वर के प्रति हमारी आस्था बढ़ने लगती है।

अगले दिन स्कूल पहुँचते ही प्रिंसिपल साहिबा बोली थीं 'अगर स्कूल के बाद थो ा समय निकाल पाएँ तो दसवीं क्लास के बच्चों का एक ग्रुप ले लीजियेगा। बच्चे मैथ में बहुत वीक हैं। आपका भी ढाई-तीन हज़ार रुपया और बन जायेगा।'

सुबह बेड-टी लेकर अम्माँ के कमरे में पहुँची तो बहुत ही प्यारा दृश्य देखने को मिला था। सच में इतनी इमोशनल हो आयी थी मैं कि आँखों में आँसू भी आ गये। कुन्नू भैया अम्माँ के गले में बाँहें डाले सो रहे थे। मेरे दरवाज़ा खोलते ही कुन्नू भैया की नींद उख गयी। अम्माँ तो जाने कब से जग रही होंगी। कुन्नू भैया की नींद न खराब हो, यही सोच टस से मस नहीं हो रही थीं।

मुझे देखते ही कुन्नू भैया और अम्माँ दोनों मुस्करा दिये। 'तू चाय लेकर आयी है ! तेरी दोनों भाभियाँ कहाँ हैं?' आज संडे है भैया। संडे को दिन में सूरज नहीं, चाँद निकलता है। मैं आ गयी हूँ न ! भैया गुसल से निपट चाय सि ुकने लगे। अम्माँ बार-बार उनकी बलइयाँ ले रही थीं 'तू पहले से इतना कमज़ोर क्यों हो गया है रे?'

'मेरे हिस्से का तुम जो खा जाती हो अम्माँ, तभी इतनी तन्दुरुस्त होय रही।'

'मेरी तो उम्र हो रही।'

'अब जाने की तैयारी है क्या?' कुन्नू भैया को ठिठोली सूझी थी।

'अब तो कर ही लूँगी। तुझे देखना था, देख लिया।'

'इस छोटी का क्या बनेगा?'

'तू है न ! देख लेना।'

मुझे याद है, एक बार अम्माँ ने कहा था, हमें कभी भी मुँह से बुरे शब्द नहीं निकालने चाहिये। 'क्यों अम्माँ?' मैंने सवाल रख दिया तो अम्माँ काँपती आवाज़ में बोली थीं, 'हम जो कहते हैं, वही इसी ब्रह्माण्ड में ही तो रहता है। और वह सब इसी ब्रह्माण्ड में घूमता-घामता हमी पर आ बरपता है। भले ही इसे लौटने में बरसों लगें या फिर एक दिन।'

अम्माँ का कहा इतनी जल्दी बरप जायेगा, सोचा भी नहीं जा सकता था। रात खाना खाकर अम्माँ जल्दी ही बिस्तर पर प गयीं। हम लोग तो टी.वी. पर सास-बहू के रिश्तों में उलझ कर रह गये थे। कुन्नू भैया को सिगरेट की तलब रहती है। डाईनिंग से सीधे स क का रुख लें, आँखें तो बंद होने का इंतज़ार कर ही रही थीं। लेकिन दो पल बाद ही कुन्नू भैया मेरे कमरे का दरवाज़ा खोल भीतर चले आये थे। 'ज़रा बत्ती तो जला री !' भैया की आवाज़ जैसे किसी ताबूत के भीतर से निकली थी। मैंने झट से उठ बत्ती जलाई थी 'क्या बात हो गयी भैया?'

'क्या अम्माँ मेरे ही आने का इंतज़ार कर रही थीं?'

'क्या मतलब?' एक कम्पन मेरे पूरे शरीर में दौ गई।

'अम्माँ नहीं रहीं।' कुन्नू भैया मेरे से लिपट फूट प े थे। फिर तो पूरे घर में कोहराम मच गया।

जाने कैसे कुन्नू भैया ने तेरह दिन काटे थे। क्रिया के अगले ही दिन अपना सामान बाँधते बोले 'मैं जा रहा हूँ।' कोई कुछ नहीं बोला। मैंने ही दो-चार मिनट उन्हें अकेला पा कह डाला 'आपकी टिकट तो अभी एक महीना और है न?'

'टिकट का क्या है, और बन जायेगा।'

'मेरा भी तो कुछ सोचा होता।'

'अभी मैं कुछ भी नहीं सोच पाऊँगा श्रुति ! अभी मुझे मत रोकना।'

कुन्नू भैया लौट गये थे। एक बरस होने को आ रहा है। इस बीच तीन-चार बार फोन आया था उनका मैं जल्दी आऊँगा श्रुति। मुझे याद है, अम्माँ ने एक जिम्मेवारी मुझ पर डाली थी। तेरे लिए दूल्हा ढूँढना है मेरे को। बता तो कैसा दूल्हा चाहिये?'

भैया कह रहे होते और आँसू मेरी आँखों से झर-झर बहने लगते। भैया कहीं ता न जायें, यह सोच अपनी साँसों को भी रोके रखती मैं। लेकिन भैया को तो जैसे सब नज़र ही आ रहा होता। झट से लहज़ा बदल लेते 'अच्छा बता तो तेरे लिए वो दो लम्बे-लम्बे कानों वाला और एक पूँछ वाला

दूल्हा कैसा रहेगा? . . . .अरे वही . . . .जिसका एक प्यारा-सा नाम होता है . . . .और उसे बुलाने में कितना मज़ा आया करेगा . . . .गधा कहीं का !'

मेरे रुदन के बीच ही मेरी हँसी फूट प ती और मैं चिल्ला प ती 'भैऽया !'

किताब के पन्ने पलटती हुई इन्हीं ख़्यालों में खोयी हुई थी कि मंगला भाभी ने भीतर कदम रखा 'श्रुति, तेरे भैया ऊपर बुला रहे हैं।' भाभी के शब्दों में केवल सूचना नहीं, एक रोष भी था। ऐसे में कई बार आतंकित हुई हूँ मैं। मैं झट से पूछ बैठी थी 'कुछ खास बात है क्या?'

'मुझे क्या पता ! खास ही होगी। भाभी पलट गई थीं। मेरा आतंक बढ़ आया। जाने अब भाई क्या मसला ले बैठें। भाई बिना लाग-लपेट के बोले थे 'कुन्नू को रहने के लिए कौन-सा कमरा दें?' यह बात मुझसे क्यों पूछी जा रही थी, समझ नहीं पाई थी। भाई से नज़रें चुराती बोली 'जो आप ठीक समझें।'

'अगर हमीं से निर्णय लेना होता तो तुम्हीं से क्यों पूछते !'

अब भला मैं क्या कहूँ? मैं चुप बनी रही तो वे ही बोले 'अम्माँ के कमरे की सारी सफेदी भुरभुरा रही है। अब एक दिन में तो सारी साफ-सफाई नहीं हो सकती न। उसे तो साफ-सफाई के बावज़ूद इस घर में जाले ही जाले नज़र आते हैं। . . .अगर तू अम्माँ वाले कमरे में . . . 'ज़ी मैं कर लूँगी।' 'कब कर लेगी? सुबह जाकर रात को लौटती है तू।' 'मैं अभी सब कर देती हूँ।'

भाई चुप थे किन्तु उनकी आँखों में मेरे प्रति एक अविश्वास का भाव था। पन्द्रह मिनट बाद ही वे मेरे कमरे में आ गये थे 'मुझे पता है तुम कुछ नहीं कर पाओगी।' वे तेजी से मेरा सारा सामान अम्माँ के कमरे में पटकने लगे। आँसू मेरे कोरों पर थे। ब ी मुश्किल से मैंने उन्हें वहीं रोके रखा। मेरा आख़िरी अटैची रखते हुए भाई बोले 'श्रुति, थो ा एडजस्ट करना सीखो।' भाई पाँव पटकते हुए बाहर को निकल गये। उनके जाते ही मेरी रुलायी फूट प ी।

कल पर काम छो ना मैंने मुनासिब नहीं समझा। कुन्नू भैया के लिए कमरा अच्छी तरह से सेट करके ही मैं सो पायी थी।

कुन्नू भैया आते ही बोले थे 'तू तो बहुत स्वार्थी है री ! खुद अम्माँ वाला कमरा ह प कर बैठ गई और मुझे दूसरे कमरे में सोने को कह रही है। तू उधर जा, मैं तो अम्माँ वाले कमरे में सोऊँगा।'

आज इतवार था। सुबह-सबेरे मुझे देखते ही भैया हँस प े 'आज फिर दिन में चाँद निकला होगा न ?' मैंने अपनी छूटती हँसी को दबा-सा लिया। भैया सीढ़ियों की ओर बढ़ते हुए बोले 'चाय लेकर ऊपर आ जा। सबसे ऊपर वाली छत पर बैठते हैं। हवा भी बहुत अच्छी चल रही है।'

'आप चलिये, मैं चाय लेकर आ रही हूँ।' ट्रे में दो कप चाय और बेकरी के आटे वाले बिस्किट लेकर मैं ऊपर पहुँची तो भैया झट से बिस्किट्स की प्लेट की ओर लपके थे 'घर पर बनवाये हैं क्या?' 'नहीं तो। बाज़ार से ही एक पैकेट लाई थी।'

अम्माँ का पीपा तो हमेशा इन्हीं से भरा रहता था। भैया एकाएक भावुक हो आये 'श्रुति, जब लाहौर छो ा था न, खाने को कुछ भी पास न था। चलते-चलते प ोस वाले खान बहादुर ने इन्हीं आटे वाले बिस्किटों का आधा पीपा हमारी गा ी में रखवा दिया था। पूरे सात दिन अम्माँ ने सभी बच्चों को यही बिस्किट खिलाये थे। दिन में सिर्फ़ छः बिस्किटों की इज़ाज़त होती थी। दो सुबह, दो दोपहर और दो रात को।' एक दर्द मैं कुन्नू भैया की आँखों में देख रही थी।

'फिर?' अनायास ही मैं पूछ बैठी थी।

'अतुल और विनोद का तो भूख के मारे बुरा हाल होता था। एक बार दोनों को भूख से बिलखते देख मैं अम्माँ से चोरी-छिपे पीपे में से बिस्किट्स निकालने लगा तो अम्माँ ने मुझे पक लिया था। खूब पिटायी हुई थी उस रोज मेरी।'

'बाऊजी कहाँ थे उस वक्त?'

'बाऊजी तो गा ी में बैठने से पहले ही लहु-लुहान हो गये थे। उन लोगों ने तलवारों से बाऊजी पर बेइन्तहा वार किये थे।' सुबह-सवेरे भैया यह कैसा विषय ले बैठे, इस बात का ख़याल उन्हें भी जैसे अब आया था। झट से पहले वाले प्रसंग पर आते बोले 'पता है, वह बिस्किटों का डिब्बा कितने दिन चला?'

'कितने दिन?'

'सिर्फ पाँच दिन।'

'उसके बाद?'

'दो दिन अम्माँ हमें उस डिब्बे में पानी घोल-घोल पिलाती रहीं। यह कह कर कि यह बिस्किटों का जूस है। सच श्रुति, बहुत खुशबू होती थी उनमें। और वह पीने के बाद नींद भी आ जाती थी।' हवा का एक तेज झोंका आया और भैया उसे जैसे अपने भीतर भरते हुए बोले 'वह खुशबू आज भी मेरे मस्तिष्क में ताजी है।' एकाएक भैया बोले 'तू जानती है, मैं यहाँ क्यों आया हूँ?'

समझ गयी थी कि भैया कहेंगे, अम्माँ एक जिम्मेवारी डाल गयी थीं मुझ पर। उसे पूरा करने आया हूँ। यानि कि अब फिर मेरी शादी का प्रसंग उठेगा।

भैया ही बोले 'अतुल और विनोद का फोन आया था। वे दोनों इस घर को बेचना चाहते हैं।'

'क्या !' ऐसा लगा, जैसे बिजली का करंट छू गया हो मेरे को।

'तुझे बुरा लगा न ! मुझे भी बुरा लगा था। लेकिन वे शायद अपनी जगह पर ठीक हैं। विनोद तो अब वैसे भी बाहर है। उसका वापिस आने का कोई इरादा नहीं है। फिर अपना हिस्सा तो वह चाहेगा ही। अतुल भी अब स्वतंत्र हो कर जीना चाहता है।' 'भैया क्या आप भी....?' कह तो गई लेकिन बाद में सोचा, जब तीनों भाई ही निर्णय ले बैठे हैं तो फिर भला मेरी कौन सुनेगा? भैया ने मेरी बात पर कोई प्रतिक्रिया भी व्यक्त नहीं की। मौसम की बयार में अब किसी भी तरह की खुशबू का अहसास नहीं हो रहा था।

दोपहर को मंगला भाभी ने बताया था, शाम को तीनों भाइयों की मीटिंग होनी है। विनोद भैया अपने आगरा के टूर से सीधे यहाँ आने वाले हैं।

अतुल भैया बीयर का एक क्रेट ले आये थे। मंगला भाभी बीयर के साथ स्नैक्स् की तैयारी में लग गई थीं। कुन्नू भैया ने छत के खुले हिस्से पर कुर्सियाँ लगा दी थीं। विनोद भैया वक्त पर पहुँच गये थे। आते ही उन्होंने शॉवर-बाथ लिया और छत पर चढ़ गए।

अतुल भैया ने मुझे और भाभी को भी छत पर बुला लिया था। बीयर की बोतल खोलते हुए कुन्नू भैया बोले 'तुम क्या सोचते हो, इस मकान की ज़्यादा से ज़्यादा क्या कीमत होनी चाहिये?'

अतुल और विनोद भैया एक-दूसरे के चेहरे की ओर देखने लगे। फिर जैसे आँखों ही आँखों से कोई निर्णय लेते बोले 'कम से कम पचास लाख तो होनी चाहिए।'

'और अधिक से अधिक....?'

'साठ लाख !' विनोद भैया पूरे जोश के साथ बोले 'इससे ऊपर नहीं हो सकती। मैंने कई प्रापर्टी-डीलर्ज़ से भी बात की थी। पैंतालीस और साठ के बीच जहाँ तय होता है, डील कर दीजिये।'

'इस वक्त एक ग्राहक है मेरे पास। वह साठ लाख देने को तैयार है।' कुन्नू भैया ने कहा तो अतुल, विनोद और भाभी के चेहरे पूरी तरह से खिल गये।

'आपके पास ग्राहक है तो फिर सोचने वाली कोई बात ही नहीं। हमें यह डील मंज़ूर है।' अतुल और विनोद भैया का लगभग सम्मिलित स्वर था।

'आगर आप और सोचना चाहें तो सोच सकते हैं या फिर किसी से पूछना चाहें तो....!'

'कैसी बात करते हो देवर जी ! आपने ग्राहक ढूँढा है तो कुछ सोच-समझकर ही ढूँढा होगा। हमारी तरफ से यह डील फाइनल रही।'

कुन्नू भैया ने तुरन्त पॉकेट में से दो चेक निकाले और दोनों भाइयों की ओर बढ़ा दिये 'ये लो तुम दोनों बीस-बीस लाख रुपये। इस घर को मैं खरीद रहा हूँ।'

'तुम !' सबके होंठ जैसे सिले के सिले रह गये।

'क्या आप लोगों को कोई ऐतराज़ है?'

मंगला भाभी ह ब ायी-सी बोलीं 'नहीं-नहीं, हमें भला क्योंकर ऐतराज़ होने लगा।'

मैं ही आश्चर्य से भर आयी थी। लेकिन मैं अपनी खुशी को समेट ही नहीं पा रही थी। कुछ कहना चाहा, पर शब्द होठों के भीतर ही रह गये।

'ठीक है। हम जल्दी ही यहाँ से चले जायेंगे।' अतुल भैया टायलेट की ओर बढ़ते हुए बोले। कुन्नू भैया ने अपलक एक बार सभी के चेहरों की ओर देखा, फिर बीयर का एक लम्बा घूँट हलक के नीचे उतार गये।

भाई लोगों के बीयर के पैग बढ़ने लगे तो मैं और भाभी उठ आयीं। डिनर भी तो तैयार करना था। किचन में आते ही भाभी बोलीं 'मैं जो भी सोचती हूँ, कभी गलत नहीं निकलता। लेकिन कुन्नू

की इस चाल को नहीं पक पाई मैं। हालाँकि पिछली बार इसने कहा भी था कि इस मकान की जगह एक बार-रेस्तराँ खोल दिया जाये तो ख़ूब चलेगा। एक शराबी इससे ज़्यादा सोच भी क्या सकता है....बना ले बीस लाख से बीस करो ....हमारी किस्मत हमारे साथ है....रूखी-सूखी ही सही, भूखे मरने वाले तो हम भी नहीं....चाहता तो भाइयों को भी साथ मिला सकता था, लेकिन उसकी मरज़ी....तू चिन्ता नहीं कर श्रुति, तेरा ब्याह हम करेंगे....!' भाभी किचन के एक कोने से दूसरे कोने तक भाग रही थीं। मैं समझ गई कि भाभी इस वक्त अपना संतुलन खो रही हैं। फाइनल डील भाभी ने ही तो कही थी। लेकिन इंसान कभी भी संतुष्ट नहीं हो पाता शायद।

सोचा था, सुबह उठते ही कुन्नू भैया से बात करूँगी कि आख़िर वे क्या चाहते हैं। अम्माँ के इस पवित्र-स्थल को क्यों नरक बनाना चाहते हैं। अम्माँ की आत्मा की शांति के लिए कुछ तो सोचा होता इन्होंने। लेकिन भैया तो सुबह मेरे उठने से तैयार होने के बीच घर से नदारद ही हो गये। विनोद भैया बता रहे थे किसी आर्किटेक्स से मिलने की बात कर रहा था। और आज रात की फ्लाइट से लौट भी रहा है। कह रहा था, वहाँ कम्पनी वालों से कुछ इकट्ठा पैसा मिलना है। सब सॉर्ट-आउट करके जल्दी ही आ जायेगा। जरा रुक कर विनोद भैया बोले 'इसके लिए तो भारत से अमरीका, पुरानी दिल्ली से नई दिल्ली जाना जैसा हो गया।'

'सब पैसे का खेल है रे ! अमरीका में रह रहा है, पैसे की खान है उसके पास तो।' मंगला भाभी इस वक्त पूरी तरह कुढ़न से भरी प ी थीं।

शाम को स्कूल से लौटी तो भाभी ने ही बताया 'विनोद ठीक कह रहा था, सुबह ! जनाब इसी महीने मकान खाली करने को कह गये हैं। '

'इसी महीने !' मैं चौंकी थी 'इतनी जल्दी सब कैसे हो जायेगा भाभी ! अगले महीने से स्कूल में बच्चों की परीक्षाएँ शुरू हैं। मुझे अब बहुत वक्त देना है उन्हें।'

'इसमें चिन्ता किस बात की ! अब तेरे स्कूल के और पास जा रहे हैं हम।'

गाँव के करीब होने का सुन मैंने राहत की साँस ली। जीवन के हर मो पर जहाँ व्यक्ति को कुछ नया पाना होता है, पुरानेपन से मोह का अलगाव उसे पूरी तरह तो ता है। मैं भी टूटी थी। अम्माँ की कितनी-कितनी स्मृतियाँ इस वक्त भी ज़ेहन में बिल्कुल ताजा थीं जिन्हें मैं यहाँ नहीं छो सकती थी।

इस नयी हवेली से स्कूल का फासला कम तो हो गया था किन्तु इस नये रास्ते से स्कूल जाते हुए मेरे पाँव जैसे मनोमन भारी हो आते। मेरे भीतर की ताकत जाने किसने छीन ली थी। स्कूल में जिस किसी के आगे घर बदल लेने का ज़िक्र चलता, मेरी आँखें झर-झर बहने लगतीं।

पूरा एक महीना बीतने वाला था। अम्माँ की बरसी पास आ रही थी। भाभी रात ही अतुल भैया से कह रही थीं 'पण्डित जी को वक्त पर बोल आना। अम्माँ की बरसी अगर उसी घर में हो जाती तो कितना अच्छा होता। जानने वाले चार लोग तो आ जाते। अब इस नयी जगह पर भला अम्माँ के लिए किसी को क्या दुःख !'

एकाएक कुन्नू भैया जैसे साक्षात सामने आ ख े हुए। वे होते तो झट से कह देते 'भाभी, सच-सच बोलो, क्या तुम अम्माँ के चले जाने पर दुःखी हो?' फिर एक ठहाका गूँजना था और भाभी जवाब देने के लिए बगलें झाँकने लगतीं। फोन की घंटी ने मुझे इन ख़यालों से बाहर खींचा। रिसीवर उठाया तो कुन्नू भैया की आवाज़ थी। खुशी और डर दोनों मेरे भीतर एक साथ मचल उठे। रिसीवर होठों पर लगाये मूक बनी रही मैं। भैया ही बोले 'तू फिर चुप हो गई ! बिल्कुल अम्माँ पर गई है।' आख़िर कुन्नू भैया कहना क्या चाहते हैं, मैं समझ नहीं पा रही थी। अब वे सीधी बात पर आये थे, 'श्रुति, मैं जल्दी ही आ रहा हूँ। अम्माँ वाले घर को तु वा कर कुछ नया बनाना चाहता हूँ। मै अतुल से बात करने वाला हूँ। वह तुझे और भाभी को लेकर आ जायेगा। विनोद और अर्चना भी आयेंगे।'

कुन्नू भैया के इस नये प्रोजेक्ट के बारे में मंगला भाभी ने सही अंदाज़ा लगा लिया था।

'हम ही बुरे क्यों बने !' मंगला भाभी बोलीं 'हम न गये तो दुनिया भर को सुनाता रहेगा। थो ा-बहुत शगुन डालना प ेगा न, वह मैं डाल दूँगी। उसने सुबह बुलाया है।' अम्माँ के लिए भाभी कहें और अतुल भैया न मानें !

कार दौ रही थी। लगभग पैंतालीस मिनट में हम पुराने वाले घर पर थे। इस बार हमने जो देखा, भाभी के लिए तो जैसे सदमा लगने वाली बात थी। घर के मुख्य द्वार पर एक ब ा-सा बैनर लगा था, जिस पर लिखा था 'कृष्णा मंदिर'।

कुन्नू भैया बाहर ही ख` थे। हमें देखते ही आगे बढ़ आये 'भाभी, पण्डित जी एक घंटे तक आ जायेंगे। पहले अम्माँ के लिए हवन-पाठ होगा, उसके बाद अम्माँ के नाम के मन्दिर की ईंट रखी जायेगी। आप श्रुति को साथ लेकर मोहल्ले में कह आईयेगा।'

भैया कह रहे थे और मैं मूक उनके चेहरे की ओर देखने लगी। एक निस्तेज आभा मुझे कुन्नू भैया के चेहरे पर फैलती नज़र आई। सहसा भैया की आँखें मेरी आँखों से मिलीं और वे बोले 'अभी एक ज़िम्मेवारी और भी है मुझ पर। मंदिर के शुरू होते ही हम उसे भी पूरा कर डालेंगे। कुन्नू भैया ने मुझे अपनी बाँहों के घेरे में ले लिया था 'श्रुति, माँ के बाद भले ही हम कितनी दूर चले जाएँ, इस घर पर जो मातृ-छाया थी, वह हमेशा बनी रहेगी। हम कभी भी निःसंकोच, यहाँ पर आकर मिल सकते हैं।' कहीं सर से पाँव तक पिघल आयी थी मैं। क्या अतुल भैया, विनोद भैया न पिघले होंगे !

आधुनिक जीवन

स्वर्ण तलवा

ईंट, पत्थर और सीमेंट से बनी
इमारतों के जंगल में
मशीनों की भरमार में
खेतों की हरियाली से दूर
फूल-पत्तों की खुशबू से नाता तो
जी लिया है मैंने।

भले ही फूलों की खुशबू से
महरूम रहूँ,
भले ही हवा के मदमस्त
झकोरों को न महसूस करूँ।

भले ही ज़िस्म इन इमारतों में कैद पलता रहे,
भले ही रूह इनमें भटकती, त पती रहे,
लेकिन अर्ज़ है मेरे रब तुझसे इतनी
कि मेरे दिल में इंसानियत की खुशबू बसती रहे।

छोटी-सी गुि या की लम्बी कहानी

डा. शशि मोहन ऋषि

एक छोटी-सी गुि या की लम्बी कहानी,
कैसे बीता बचपन और कैसे आई जवानी !
अचानक एक आँधी आई, उज गया गुलशन,
बिखर गये सब फूल, ऐसे बीता था बचपन।
हर कदम पर काँटे थे, हर राह थी मुश्किल,
पास नहीं कोई साधन थे, और न थी कोई मंज़िल।

कल रात मैंने एक सपना देखा,
अरसे बाद माँ का शांत चेहरा देखा;
'बेटा ! छोटा-सा मेरा इक काम करो,
प्रेम-सहित यह तोहफ़ा बिटिया को भेंट करो।'
'माँ ! क्या लाई हो इस झोली में?
उत्साह भरा है आज तुम्हारी बोली में।'

'प्यार के सिवा मेरे पास कुछ और नहीं,
बस प्यार ही तो है इस जगत् की धुरी।
प्रेम अमर है, जिसे इसका अहसास नहीं,
वो ना तो देवता है और ना ही इंसान ही।'

जिस तरह हवा एक दिशा में हरदम चलती नहीं,
दुःख की घि याँ भी मन में सदैव बसती नहीं।
काले बादल छँटने लगे, किरणों ने प्रवेश किया
कष्ट मिटाने एक महापुरुष ने पिता का रूप लिया।

ज़िन्दगी है समस्याओं से जूझने का नाम
औ' मेहनत से होती हैं मुश्किलें आसान।
इन्सान ज़िन्दगी में तब तक बदलता नहीं
जब तक वो मुश्किलों से गुज़रता नहीं।
एक शुभ-दिन ऐसा ज़रूर आयेगा
जब शहज़ादा गुि या को ले जायेगा।

धार्मिकता बनाम नैतिकता

डा. हरजेन्द्र चौधरी

(यह आलेख, आई.सी.एच.आर. के सहयोग से दिल्ली विश्वविद्यालय के मोती लाल नेहरू कॉलेज में 'भारतीय समाज में नैतिकता : भूत और वर्तमान' विषय पर आयोजित राष्ट्रीय परिचर्चा में पढ़ा गया था जो सामयिक मीमांसा में प्रकाशित हुआ। - संपादक)

अपने इस आलेख के प्रारंभ में मैं भारतीय संदर्भ में धार्मिकता और नैतिकता की पाररस्परिकता पर बात करना चाहता हूँ। यह पारस्परिकता इकहरी नहीं, अनेक तही, अनेक स्तरीय और बहुरुपी है। धार्मिकता और नैतिकता के बीच का संबंध असल में इतना द्वंद्वपूर्ण और अन्तर्विरोधपूर्ण है कि इसमें निहित अतिवादी संभावनाओं की मौजूदगी बरबस ही हमारा ध्यान खींच लेती है।....शुरू में ही स्पष्ट कर दूँ कि 'धार्मिकता' शब्द को मैं यहाँ कर्तव्यबोध या कर्तव्यनिष्ठा अथवा कर्तव्यपालन के अर्थ में न लेकर उसे धार्मिक अनुष्ठानों, उनसे जु ी लोकमान्यताओं, आडम्बरपूर्ण आयोजनों, पूजा-पद्धतियों तथा पूजा-स्थलों आदि पर संपन्न की जाने वाली भिन्न-भिन्न गतिविधियों के समुच्चय के रूप में ले रहा हूँ। यह इसलिए नहीं कि यह 'धर्म' और 'धार्मिकता' की किसी नई व्याख्या या मेरी निजी पसंद-नापसंद का मामला है, बल्कि इसलिए कि मैं इस आलेख में 'धर्म' व 'धार्मिकता' के उस व्यवहारगत मूर्त रूप पर कुछ प्रश्न उठाना चाहता हूँ जो आज हमें अपने चारों ओर सक्रिय और व्याप्त दिखाई प ते हैं।

जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, वह मनुष्य के चिन्तन और विचार-विमर्श का मुद्दा इतना नहीं, जितना कि व्यवहार और 'कार्यान्वियन' का मामला है। 'नैतिकता' की अवधारणा तो 'सदाचार', 'सद्व्यवहार' का अमूर्त्त पर्याय है जो मानवीय व्यवहार से जु कर मूर्तता अर्जित करती है। किसी व्यक्ति की नैतिक मान्यताएँ उसके सामाजिक व्यवहार में मूर्तिमान हो कर ही सार्थकता पाती हैं। मुझे यह कहते हए कोई संकोच नहीं है कि नैतिकता यदि अमूर्त्त अवधारणा मात्र है तो वह अर्थहीन है। मनुष्य के व्यवहार में उतरने पर ही उसकी सार्थकता रुपायित और संभव हो पाती है।

साझे अनुभवों के आधार पर हम सब जानते हैं कि पारम्परिक भारतीय मन 'धार्मिकता' और 'नैतिकता' को प्रायः अभिन्न और कभी-कभी 'एक ही' मानता है। सामान्य सोच यह है कि जो व्यक्ति धार्मिक है, वह 'नैतिक' तो है ही। धर्म को नैतिकता का केन्द्रबिन्दु या प्रतिमान मानने की लोक आदत अभी भी प्रभावी और बरकरार है। यह 'मान्यता' सामान्य भारतीय समाज की धर्मभीरुता - ईश्वरभीरुता से उत्पन्न हुई है और बदले में उसे पुष्ट भी करती है। अर्थात् एक ओर धर्मभीरुता इस मान्यता का स्त्रोत है तो दूसरी ओर यह मान्यता समाज की धर्मभीरुता-ईश्वरभीरुता का प्रमाण है।

पर बहुत शक्तिशाली दिखाई प ने वाली सामाजिक मान्यताओं का आधार कभी-कभी बहुत कमज़ोर या नदारद भी हो सकता है। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जाना बहुत ज़रूरी है कि क्या नैतिक होने के लिए 'धार्मिक' होना ज़रूरी है और यह भी कि जो व्यक्ति धार्मिक है, वह अपने सामाजिक व्यवहार में अनिवार्यतः और परिणामतः नैतिक होगा। सामान्यतः दिखाई प ने वाले सामाजिक व्यवहार को केन्द्र मे रख कर, उसका विश्लेषण करके ही इस प्रश्न का विश्वसनीय और प्रामाणिक उत्तर पाया जा सकता है।....तो आइये, अपने आस-पास घटित होने वाले, होते रहने वाले कुछ जीवंत उदाहरणों से इस प्रश्न का कोई ठोस उत्तर खोजने का प्रयास करें।

हमारे समाज में 'धार्मिक' लोगों की 'छवि' आम तौर पर अच्छी बनी रहती है। वे प्रायः प्रशंसा के पात्र बनते दिखाई प ते हैं। हमारा समाज आम तौर पर उनके विरुद्ध नहीं सोच पाता। यही भारतीय मन की द्विविधा है कि वह 'धार्मिकों' को प्रायः 'सदाचारी' मान कर चलने को विवश है।

सामूहिक पूजा-स्थलों से संबंधित गतिविधियों को देखें तो भी -भा वाले प्रसिद्ध धार्मिक स्थलों पर, जहाँ 'भक्त-जनों' को पंक्ति में ख े हो कर भीतर जाने का अवसर मिलता है, वहाँ अनेक शक्तिशाली भक्त धक्कापेल करते या पंक्ति तो कर जैसे-तैसे आगे निकलने का प्रयास करते पाये जाते हैं। अपनी किसी 'भौतिक उपलब्धि' पर केन्द्रित मन्नत को पूरा करने के लिए धार्मिक-स्थलों को दान-चंदा देने या भिखारियों को भीख देने की बात हो तो भारतीय मन की सीमित, चौकन्नी 'उदारता' देखते ही बनती है, परंतु जहाँ 'धार्मिकता' का दबाव नहीं है, वहाँ हम अपने गरीब नौकर

या मज़दूर को उसके काम के बदले पूरा मेहनताना देते हुए भी 'झिक-झिक' करते हैं। स क किनारे बैठे जूते-पॉलिश करते किसी ल के से अपने जूते चमकवाते समय हम एक-एक, दो-दो रुपये के लिए मोल-भाव करते हैं, लेकिन पराये मेहनताने का वही बचा हुआ पैसा किसी धर्म-स्थल के सामने बैठे किसी भिखारी की झोली में डाल कर आश्वस्त, संतुष्ट अनुभव करते हैं। क्या धार्मिक लोग दयालु और संवेदनशील होते हैं? या वे अपने मन और अहम् की तुष्टि के लिए लालायित लोग हैं? दुकानों, ढाबों, होटलों या छोटे और मँझले व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में काम करने वाले 'छोटुओं' या घरेलू नौकरों के रूप में अपना जीवन घसीटते 'बहादुरों' के प्रति मालिक लोगों का व्यवहार प्रायः कैसा होता है? दुकानों, ढाबों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों आदि में देवताओं की तस्वीरों या धार्मिक प्रतीकों का होना और सुबह-सुबह 'बिजनेस' शुरू करने से पहले मालिकों द्वारा धूप-बत्ती जलाना या अन्य किसी तरह का संक्षिप्त-सा अनुष्ठान करना उनकी दिनचर्या का ऐसा अंश है, जिसके आधार पर उनको धार्मिक कहा जा सकता है। मेहनतकश गरीबों के प्रति इन 'धार्मिकों' का व्यवहार सहानुभूति और दयालुता के प्रमाण प्रायः प्रस्तुत नहीं करता।'धार्मिक' लोगों द्वारा किये गये शोषणपूर्ण व्यवहार को कहाँ तक नैतिकता-संगत माना जा सकता है?

धार्मिक-स्थलों पर या पार्कों आदि सार्वजनिक स्थानों पर होने वाले अनेक आयोजनों के दौरान बिजली व पानी जैसी 'चीज़ों' की चोरी को लोग प्रायः 'चोरी' नहीं समझते। इस तरह की 'चोरियों' को वे 'धर्म का काम' समझ कर सामान्य व्यवहार के बट्टे-खाते में डालते रहते हैं। . . . किसी धर्मस्थल के निर्माण के लिए सार्वजनिक स्थल पर कब्ज़ा जमा लिए जाने पर प्रायः तीखी सामाजिक प्रतिक्रियाएँ सामने नहीं आतीं। हाँ, कब्ज़ा करने वालों को खदे ने के काम को सरकार व न्याय-व्यवस्था द्वारा 'संवेदनशील' मामला ज़रूर मान लिया जाता है। ऐसे में धर्मभीरुता और तथाकथित धार्मिक लोगों की आक्रामकता से उपजता भय प्रायः किसी भी प्रकार के सामाजिक प्रतिरोध की संभावना को दबा लेता है। राजनेता और सरकार भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारतीय मन की इस धर्मभीरुता-ईश्वरभीरुता का ही पोषण करते दिखाई प ते हैं।

मैं 'हिन्दु धार्मिकता' से कुछ उदाहरण देना चाहता हूँ जो 'सफाई ईश्वर का दूसरा नाम है' जैसी कहावतों की ऐसी-तैसी करने से संबंधित हैं। (अन्य धार्मिक-स्थलों मस्जिदों, गुरुद्वारों, चर्चों, अग्नि-मंदिरों आदि के संबंध में मेरी जानकारी शायद अधिक प्रामाणिक न हो।) हिन्दु-मंदिरों में सफाई-स्वच्छता की हालत प्रायः काफी चिन्ताजनक होती है। वहा चढ़ाये जाने वाले प्रसाद की चिकनाई और मिठास केवल वेदियों पर, शिवलिंग पर, मूर्तियों के चरणों पर ही अपना प्रभाव नहीं छो तीं, बल्कि मंदिरों के फर्शों पर भी चिपचिपाहट के रूप में स्थायी आसन जमाये दिखती हैं। गंगा और यमुना जैसी नदियों को एक ओर 'पवित्र' माना गया है तो दूसरी ओर माँ का दर्जा दिया गया है। पर तीसरी ओर देखें तो पायेंगे कि हम अपनी 'गंगा मैया' और 'जमुना मैया' को अपनी 'गंदगियों' के अलावा और कुछ खास नहीं सौंप रहे। . . . साथ ही 'गैय्या' को 'मैय्या' मानने की परम्परा का व्यवहारिक रूप देखना भी ज़रूरी लगता है। इस पवित्र पशु को धार्मिकता के दबाव में रोटी देने वाले लोग दिनचर्या के सामान्य दौर में अपने रास्ते से इसे हटाने के लिए ठोकर मारते भी पाये जा सकते हैं। दिल्ली में तो अनेक चलती स कों के बीच की पटरियों पर गायों को बैठे पगुराते देखा जा सकता है। हम बेघरों और इस पवित्र पशु की उपस्थिति के प्रति समान रूप से संवेदनशून्य हैं, इस बात में कोई संदेह नहीं।

हम हिन्दु लोग पीपल की भी पूजा करते हैं, तुलसी के बिरवों पर जल चढ़ाते हैं, पर अन्य पे -पौधों के अस्तित्व को बनाए रखने, उन्हें सुरक्षित रखने के लिए इतने तत्पर, लालायित, संकल्पित क्यों नहीं होते?

कभी-कभी मैं यह सोच कर चक्कर में प जाता हूँ कि क्या सचमुच भारतीय समाज बहुत धार्मिक, बहुत कर्तव्यशील है। समकालीन विचार-सरणियों के आलोक-वृत्त के बाहर भी देखें तो भी क्या पारम्परिक धार्मिक-सामाजिक मान्यताएँ हमारे व्यवहार में उतर पाती हैं। घर में नारी के सम्मान को देवताओं के आगमन, बल्कि घर में उनकी उपस्थिति का पर्याय मानने वाले इस समाज में नारी की वास्तविक स्थिति से हम सब परिचित हैं। 'यत्र नारी पूज्यते' एक आदर्श मान्यता है, पर नारी और 'शूद्र' को 'ता न के अधिकारी' बनाये रखने वाला हमारा समाज सचमुच कितना-कितना उदार, कितना क्रूर, कितना हिंसक, कितना आदर्शवादी-उपदेशवादी - कुल मिला कर कितना आडम्बरी और

अन्तर्विरोधपूर्ण रहा है। यहाँ 'करनी' में वह सौन्दर्य नहीं है, जो 'कथनी' में है। अधिकतर मामलों में दो अलग-अलग 'परस्पर-अन्तर्विरोधी' ध्रुवों के बीच सामन्जस्य स्थापित करने के लिए हमारा समाज आडम्बर का सहारा लेता रहा है - कथनी-करनी के बीच की खाई को प्रायः चौ ाता रहा है। व्यवहार और सोच के बीच की खाई कभी-कभी इतनी चौ ी और इतनी गहरी हो जाती दिख प ती है कि संवेदनशील, समझदार व्यक्ति के समक्ष किसी ठीक-ठाक निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले ही उसके अधूरेपन-एकांगीपन या उलझन के पाताल में लुढ़कने का ख़तरा बना रहता है।

धार्मिक अनुष्ठान के समय या धार्मिकता के दबाव के दौरान संवेदनशीलता का झोंका हमारे व्यवहार को कुछ देर के लिए खुशबूदार बना देता है, पर उस झोंके के गुज़रने के बाद हमारा व्यवहार इतना स ियल और संवेदनशून्य क्यों हो जाता है?

क्या धर्मभीरुता और ईश्वरभीरुता जैसे तत्व मनुष्य के प्रति मनुष्य की निष्ठा और कर्तव्य-भावना को आघात नहीं पहुँचाते? ईश्वर, स्वर्ग, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि-आदि के प्रति हमारी निष्ठाएँ क्या हमें अपने मानव-बंधुओं और मानवीय मूल्यों के प्रति, जाने या अनजाने, तिरस्कार-भावना से नहीं भर देतीं या (कम से कम) मानवीय समस्याओं और 'इहलौकिकता' के प्रति हमारी संवेदना को भोथरा नहीं करतीं?

प्रायः देखने में आता है कि हम भारतीय लोग केवल अपनी मानवीय-बिरादरी के प्रति ही नहीं, पशु-जगत व वनस्पति-जगत के प्रति भी संवेदनशील, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं करते, पहले कभी करते रहे हों तो शायद करते रहे हों। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' में वर्णित शकुन्तला की विदाई-बेला का प्रसंग याद आ रहा है। कण्व ऋषि के आश्रम से अपने पति राजा दुष्यंत के पास जाने को तैयार शकुंतला आश्रमवासियों, सहेलियों आदि से विदा लेने के साथ-साथ हिरणों और वृक्षों से भी विदा लेती है। अद्भुत प्रसंग है। मनुष्यों के साथ-साथ पशु-पे आदि भी शकुन्तला के लिए जीवंत और आत्मीय हैं।.... पर क्या आज हम भारतीय अपने चारों ओर के परिदृश्य में इस जीवंतता और आत्मीयता का अनुभव या उसकी खोज कर पाते हैं? चारों ओर संवेदनहीनता की घातक परिव्याप्ति दिखाई प ती है। हम दिल्लीवासी इसके सबसे ब े और साक्षात् शिकार हैं।

'दिल्ली शहर' के संबंध में तो किसी सर्वेक्षण या किन्हीं आँक ों को आधार बनाए बिना केवल घटनाओं-व्यवहारों और टी.वी., अखबारों को देख कर ही यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'नागरिकों की संवेदनशीलता' घट रही है। इस शहर के लोग कभी अपनी सक्रियता से तो कभी अपनी निष्क्रियता से अपनी संवेदनहीनता का परिचय देते दिखाई प ते हैं। जगह-जगह ट्रैफिक जाम की समस्या के मूल में स कों और वाहनों के बीच का ग ब ाता अनुपात संभवतः इतना ब ा कारण नहीं है, जितना ब ा कारण यहाँ के लोगों का संवेदनहीन और आक्रामक होना है। रोड-रेज़ (यातायाती हिंसा) की घटनाओं के पीछे भी संवेदनशीलता की अपर्याप्तता या उसका अभाव ही दिखाई प ता है। यह अभाव व्यक्ति को, और व्यापकतर समाज को अहंकारी और हिंसक बनाता है, कानून-व्यवस्था की समस्या भी पैदा कर सकता है और मनुष्य की 'मनुष्यता' के विलोपन के संकट का कारण भी बन रहा है।

मेरी निग़ाह में संवेदनशीलता एक शाश्वत् मानवीय मूल्य है, सामाजिक व्यवहार का अभीष्ट प्रतिमान है, इसलिए 'नैतिक' है। संवेदनशीलता व्यक्ति को सहनशील और विचारशील (considerate) बनाती है, उसके भीतर दूसरों को समझने की तत्परता जगाती है, वैचारिक-बौद्धिक उदारता की रक्षा और अभिवृद्धि का मार्ग प्रशस्त करती है, तमाम तरह की असहमतियों-भिन्नताओं के बीच और बावजूद लिङ्ग, जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्रीयता की सीमाओं के अतिक्रमण का आधार प्रस्तुत करती है। कहा जा सकता है कि संवेदनशीलता किसी व्यक्ति के 'मनुष्य' होने का और उसके 'नैतिक' होने का प्रमाण है।

अंत में मैं लौट कर फिर से 'धार्मिकता बनाम नैतिकता' के मूल-बिन्दु पर आकर अपनी बात पूरी करना चाहता हूँ। यदि कोई व्यक्ति या समूह 'धार्मिकता' के सहारे अपनी ज़िन्दगी की नाव सफलतापूर्वक खे ले जा सकता है तो उसके लिए 'साथी मनुष्यों' और समाज का महत्व घट सकता है। 'धर्माविष्ट' व्यक्ति या समूह द्वारा आयोजित 'भगवती जागरण', 'कीर्तन', 'अखण्ड पाठ', 'ताजिया', 'रथ-यात्रा' और 'प्रभात फेरी' जैसे कार्यकलाप चाहे विद्यार्थियों की पढ़ाई-लिखाई में बाधा डालते हों, राहगीरों या वाहनों का रास्ता रोक कर 'ट्रैफिक जाम' का कारण बन जाते हों, दिन-भर अपने काम में लगे लोगों की रात की नींद छीन लेते या खराब कर देते हों, उनकी बला से !....

यह 'धार्मिकता' का आक्रामक और हिंसक चेहरा है, जो 'धर्माविष्ट' व्यक्ति, परिवार या समूह की संवेदनहीनता द्वारा रूपायित होता है। आक्रामक हिंसा और अनिष्टकारी संवेदनहीनता को जन्म देने वाली यह 'धार्मिकता' मनुष्य को हाशिये पर धकेल देती है, मनुष्यता का तिरस्कार करती है, इसलिए यह 'अनैतिक' है। यह धार्मिकता असल में 'धर्म' के वास्तविक, मूल अर्थ को भी विरूपित और विस्थापित करती है; मनुष्य को धर्म के वास्तविक कर्तव्यबोध व कर्तव्यशीलता से विमुख और वंचित करती है, इसीलिए यह अमानवीय-असामाजिक भी है और 'अनैतिक' भी। यह आडम्बरों को पोसती है, सच कहने से रोकती है, भारतीय मन को दुविधा में फँसाये रखती है।

अंत में मैं राजेश जोशी की एक कविता उद्धृत करते हुए इस उम्मीद के साथ अपनी बात पूरी कर रहा हूँ कि जागरूक होता भारतीय समाज अपनी धर्मभीरुता-ईश्वरभीरुता पर नियंत्रण पाकर इस 'धार्मिकता' के वास्तविक निहितार्थों को समझ कर इसका प्रतिरोध करेगा और सामाजिक व्यवहार के अभीष्ट प्रतिमानों को मान्यता दे कर शाश्वत् नैतिकता - मनुष्यता का वरण करेगा।

"मकान मालिक परेशान है
और आँगन में टहल रहा है, देख रहा है
दाहिनी ओर की दीवार पर
भीत फो कर
एक पीपल उग आया है
दीवार में दूर तक
प गई है दरार

पर पीपल को
न तो उखा ा जा सकता है
न काटा जा सकता है
क्योंकि यह
धर्म के विरुद्ध है।

मकान मालिक परेशान है
और आँगन में टहल रहा है, देख रहा है
पीपल और ब ा हो गया है
पूजा के लिए उसके आसपास
इकट्ठे होने लगे हैं
मोहल्ले के लोग

मकान एक सार्वजनिक स्थल
बनता जा रहा है
पर वह किसी को भी रोक
नहीं पा रहा है
क्योंकि यह
धर्म के विरुद्ध है।

मकान मालिक परेशान है
और आँगन में टहल रहा है, देख रहा है
पीपल ने ज ें और फैला ली हैं
दीवार धसक गई है पूरी तरह
घर एक तरफ से
पूरा नंगा हो गया है
जहाँ से ताक-झाँक कर रहे हैं लोग
पर वह किसी से

कुछ नहीं कह पा रहा है
क्योंकि यह
धर्म के विरुद्ध है।
मकान मालिक परेशान है
और आँगन में टहल रहा है, देख रहा है
फैलती ही जा रही है
पीपल की ज`
और धसकता ही जा रहा है मकान
अपनी ही ज़मीन से
निर्वासित होता जा रहा है वह
वह मन ही मन ब ब ा रहा है
ऐसी की तैसी इस....

पर असम्भव है इसके आगे कुछ भी कहना
क्योंकि यह
धर्म के विरुद्ध है।"

मिली भगत

महेश राजा

पत्नी की आदत है कि वह सवेरे उठते ही सबसे पहले अख़बार हाथ में लेकर महासमुंद की खबरें पढ़ती है।

एक दिन सुबह उसने अखबार में पढ़ा कि क्लब पारा में रहने वाले एक साहू हवलदार के यहाँ से चोर पचास हज़ार के गहने और नगदी चुरा कर ले गये। पत्नी ने मुझसे आ कर कहा -

'सुनते हो, आजकल चोर इन पुलिस वालों को भी नहीं छो ते। उनके यहाँ भी चोरी करने पहुँच जाते हैं। कल रात ही क्लब पारा में रहने वाले साहू हवलदार के यहाँ पचास हजार की चोरी हो गई है, और चोर अभी तक पक ा नहीं गया है।'

मैंने हँसते हुए कहा - 'तुम चिन्ता मत करो। पुलिस वाले के यहाँ चोरी हुई है न, तो माल और चोर दोनों ही पक` जायेंगे।'

पत्नी ने कहा 'वह कैसे? चोर तो चोरी कर कहीं भाग गया होगा।'

मैंने कहा - 'अरे भागवान ! तुम इन पुलिस वालों को जानती ही कितना हो। ये चोर और पुलिस की मिली-भगत होती है। अब चोर को तो मालूम नहीं था कि वह जहाँ चोरी कर रहा है वह पुलिस वाले का घर है। एक-दो दिन बाद जब थाने में चोरी का आधा माल पहुँचाने आयेगा, तो वह उससे पूरा वसूल कर लेंगे। आख़िर चोर-चोर मौसेरे भाई जो ठहरे। तुम चिन्ता मत करो, जाओ जाकर चाय बनाओ।

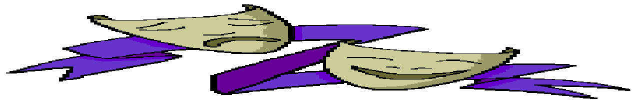

मेरा यथार्थ

केशव शरण

सोचता तो हूँ
कि मेरे पास भी
घर होता
ब ा-सा, बगीचे वाला
जो अंदर सारे साज़ो-सामान से
सजा होता
और बाहर
आम की डाल पर
झूला प ा होता
और घास पर
रक्खी होतीं बाँस की कुर्सियाँ

इसे आप मेरा ख़्वाब कह सकते हैं
लेकिन यह मेरी रूमानियत नहीं है
रूमानी होता हूँ तो
सोचता हूँ कि
काश ! मेरे नाम भी
एक खण्डहर होता
और एक प्रेम-कहानी
गौरवपूर्ण इतिहास के अलावा

मेरे ख़्वाब
और मेरी रूमानियत से
मालूम हो ही गया होगा
मेरा यथार्थ

ज ें

डा. संतोष गोयल

'रुक नहीं सकती नगमा? आज रुक जाओ। मुझे भी तुम्हारी तरफ कुछ काम है। कल साथ चली चलूँगी। मेरा भी काम निबटवा देना. . . .वही. . . .अँगूठियाँ बनवाने का।'

मैं अभी-अभी विदेश से तीन वर्ष बिताकर लौटी थी। पिछली क ियाँ मिलाने की कोशिश के तहत ही उस दिन नगमा को सपरिवार घर बुलाया था। अभी तो बीते वक्त की खाइयाँ भरी भी न थीं कि जाने का वक्त हो गया तभी तो रुकने का इसरार किया था। सुझाव सबको सूट कर गया और नगमा रुक गई।

नगमा मेरी मित्र थी. . . .ऐसी मित्रता, जिसे समय और परिस्थितियाँ खण्डहर नहीं बनातीं। एम. ए. से चली आ रही मित्रता की क ियाँ परत-दर-परत गाढ़ा व पक्की हो गई थीं, इतनी पक्की कि वक्त के अंतराल और दूरियों से भी बेअसर थीं। ऐसी दोस्तियाँ जंग न पक पाती हैं। मिलें न मिलें ज़ेहन के किसी कोने में दोस्त होने का सुरक्षा कवच थामें रहतीं। सालों बाद अचानक हुई फोन की बातचीत से ही दोनों एक-दूसरे से बँध जाते. . . .

'एक बेटी. . . .प्यारी. . . .गुदगुदी. . .रुई के गाल-सी. . .की माँ बन गई. . .फिर फोन पर ही-

'बिटिया तीन बरस की हो गई है. . . .तेरी तरह बातूनी है?'. . . .और. . . .'बेटे के जन्म' की खबर भी ढेर-सी बधाइयों के साथ फोन पर ही मिल गई थी। बस, यह थी कुछ फोन पर की बातचीत। मानो फोन न हुआ, आकाशवाणी का समाचार हो गया। फिर एक दिन अचानक नगमा की बिटिया 'सबा' के विवाह का कार्ड मिला, तब मुलाकात हुई।

'हाय ! नगमा कितना मुटा गई है. . . .हूँ. . . .लगती है एक भारी-भरकम सास. . . .' विवाह के रस्मो-रिवाज़ तथा मेहमानों की देख-भाल में फँसी नगमा, 'आओ बैठो. . . .कैसी हो. . . .खाना खाया. . . .दूल्हा कैसा है. . . .अच्छा ! ये हैं साहिल और सना. . . .'

'इतने ब े हो गए। जानते हो मुझे? मैं तुम्हारी खाला हूँ. . . .पर ये क्या जाने?'

नगमा खुद ही से बात करते-करते जैसे किसी और मेहमान की अगवानी करने चली गई।

फिर मिली तो बेटे के निकाह के मौके पर और सामान्य बातचीत के बाद 'अब बनी असली सास ! दामाद तो अपने घर में रहता है, हर रोज़ की टकराहट ही नहीं. . . .पर बच्चू ! अब बहू आई है। रोज़-रोज़ का साथ, टकराव और झाँय-झाँय के पूरे मौके सारे खि कियों, झरोखों, कोनों-कुचीलों के साथ खुले प े होंगे।

'देखते हैं. . . .' कंधे झटका दिये थे उसने।

वक्त बीता. . . .पता ही न चला। बच्चे जब छोटे होते हैं तब वक्त का पता ही कहाँ चलता है? समय धावक गति से निकल गया। न नगमा को पता चला न मुझे। वह तो दादी-नानी बन कर निश्चिन्त भाव से अपने घुटनों की जक न, ब्लड-प्रैशर की मारा-मारी, पति के स्वास्थ्य की अनेक चिन्ताओं में डूब-उतरा रही थी और मैं. . . .बच्चों को विदेशों में मिली ब ी-ब ी नौकरियों की मज़बूरी से विदेश भेज कर अपने अकेलेपन को झेल रही थी।

बच्चों के होने का मनोविज्ञान भी अजीब है। होते हैं - तो उनकी बढ़ती माँगों, आलोचनाओं, ग ब झालों, कभी काम न करने का तनाव, कभी काम न होने की स्थिति पर झुँझलाती रहती, पर न होने पर घर काटने को दौ ता। उनकी माँगें ही न होतीं, तो रसोईघर सूना प ा रहता। घर ज्यों का त्यों प ा रहता। न बिखरना न सँभालना, न सब्जी लाने की भाग-दौ , न बनाने का ताम-झाम। धूल-मिट्टी तलक घर घुसने का साहस न करती। विदेश से आकर तो यह अकेलापन और सालने लगा था, तभी नगमा को मय-परिवार बुलाया और फिर रोक लिया था।

प्रोग्राम के अनुसार अगले दिन नाश्ता वगैरह निपटा कर निकल प े।

'कहाँ जाने का है?'

'मालीवा ा।'

'ये कौन-सा वा ा है। क्या यहाँ कभी माली रहते थे?'

'ये तो पता नहीं। पर इतना ज़रूर पता है कि इन दो-चार फीट की गलियों में अब तो कोई बाग-बगीचा नहीं बन सकता, जो माली की ज़रूरत महसूस हो। पहले चाहे रही हो कभी।' नगमा ने ऐसे कहा जैसे इतिहास की विशेषज्ञ हो।

अचानक 'पुरानी दिल्ली का दौरा किया जाये' वाला भाव जोर मारने लगा। अभी कुछ दिन पहले ही 'दिल्ली - एक शहर' नामक किताब 'पुस्तक मेले' में देखी थी। आज उसे खरीद कर पढ़ने का मन हुआ। दिल्ली की गलियों की यात्रा कितनी दिलचस्प होगी, सोच कर एक अजीब-सी ख़ुशी मिली। यह सोच कर दुःख भी हुआ कि अब न तो पैरों में दम है, न ही शरीर में खम। चलना कैसे होगा? पता नहीं दिल्ली की ये गलियाँ मेरी नज़र में उतर पायेंगी - का प्रश्न ब ा हो कर सामने था। मन में कुछ निराशा थी, पर कुछ आशा भी जागी क्योंकि प्रोग्राम मालीवा` का ही था।

थो ा-सा रुक कर नगमा बोली 'अब तुम किस-किसके बारे में जानने का इसरार करोगी और मैं किसके बारे में बता पाऊँगी। यहाँ तो हर गली में एक कूचा और कूचे में एक कटरा है। गली-कूचा शब्द शायद बना ही ऐसे है। सोच भी सकता है कोई कि एक-एक कटरे में हज़ारों दुकाने हैं और उनमें करो ों का माल भरा प ा है....सा ियाँ, गरम कप`, टेरीकाट, गोटाजरी, ख़मख़ाब, जरदोज़ी, साज-सज्जा के सामान, मसाले तरह-तरह के....एक अजब कसीदाकारी-सी....यह पुरानी दिल्ली की गलियाँ-कूचे नहीं हैं सिरफ़...ये तो एक इतिहास, एक भूगोल, एक अजायबघर है। ये तो कदमों का नक्श हैं...हर नक्श की एक कहानी है...एक गाथा...बहुत लम्बी-चौ ी-गहरी।'

नगमा ऐसे बोल रही थी मानों वह गाइड हो जो दिल्ली की पुरानी इमारतों को पूरे कथा-साहित्य के साथ दिखा रही हो।

'अब देखिये मेमसाहब ! ये हैं मुगल कसीदाकारी का नमूना। दूर से देखो तो कढ़ाई लगे, पास आओ तो कुरान की आयतें....इधर आइये....लालकिला....वो दिल्ली दरवाज़े पर लगे हाथी देख रहे हैं, पहले यहाँ दो राजपूत बहादुरों की मूर्तियाँ थीं - जयमल और फत्ताह जो दो हाथियों पर सवार थे, जिन्हें औरंगजेब ने तो दिया था। बाद में ये केवल हाथी बनाये गये और ये है नौबत खाना, यहाँ शाही बैंड बजा करता था। इतवार सूरज का दिन और शनिवार (राजा के जन्म का दिन)....' जाने कितने किस्से।

नगमा ने भी एक अदद गाइड का फर्ज़ निभाया था।

नई स क के बाहर स्कूटर वाले ने छो दिया था। अंदर तक ले जाने की न जगह थी, न इज़ाज़त। वहाँ की आठ-दस फुट चौ ी स क तथा सैक ों की तादाद में लोग, फिर सामान ढोते झल्लीवाले, रिक्शे, ठेले, रे ियाँ, जाने क्या-क्या? कंधे से कंधा भि ाते चलने की भी जगह नहीं। मज़ा यह कि तब भी आने-जाने की प्रक्रिया चल रही थी। एक-दूसरे के हाथ से हाथ नहीं टकराते बल्कि रिक्शे व ठेलों के पहिये भी आपस में टकराते रहते....फँसते, चालक ब ब ाते....निकलते जाते। सफ़र जारी रहता।

कनखजूरे-सी रेंगती स क की सैक ों टाँगें न दीखतीं। उसी पर हमें जाना था। उम्र का तकाज़ा, जो ों के दर्द से मज़बूर....हमने रिक्शा ले लिया। नई स क के भीतर धँसता रिक्शा मानों किसी खाई में या फिर सुरंग में घुसता-सा लगा। सामने थी....एक जद्दोज़हद तथा भि ंत भरी स क।

ल ते-भि ते-टकराते-सहमते और एक-दूसरे को थामते-थमते हमने मालीवा ी के मुहाने तक पहुँचने का अजनियबत-भरा सफ़र तय करना था, जो अपने अजनबीपन के कारण मज़ेदार भी हो चला था। मुझे तो इन स कों का अनुभव नाम-मात्र को ही था। बाहरी चाँदनी चौक की चकाचौंध की दर्शक होने के साथ-साथ दरीबे की सोने के ज़ेवरों से लदी-फँदी दुकानों से छुटपुट खरीदारी, फिर पराठों वाली दुकान से कभी-कभार लज्जत और लिज्जतभरे पराठों की चसक-ठसक तथा खुरचन, रब ी और मलाई वाला दही....बस इतनी भर ही मेरी समूल जानकारी थी। अब पहली बार घबराहट का स्थान उत्सुकता ने ले लिया था। विदेशों के सूने-से लगते बाज़ारों में शाही अंदाज़ की खरीदारी के मुकाबले में दिल्ली के दिल की लदी-फँदी ना ियों जैसी गलियों का सफ़र अब मज़ेदार हो चला था।

नगमा पर इस सब ल ंत-भि ंत का विशेष प्रभाव होता ही क्यों? वह तो इस सब से अजनबी न थी। विवाह से पूर्व यहीं रही थी। इन्हीं में ब ी हुई थी। उसके ज़ेहन के भीतरी हिस्से में इन सब स्थानों के नक्शे थे। बचपन की कच्ची नई-नई गीली सीमेंट पर प` नक्शे थे, मिटाये मिटते कैसे? मैं दिल्ली के नये तबके में रही-पली-बढ़ी थी, इसीलिए अनजान, अजनबीपन की दहशत आँखों मे भरे,

रिक्शे से गिर-गिर प ने की स्थिति को झेलती-बचाती उजबक की तरह रिक्शे में बैठी थी। खुद को सँभालूँ कि रंग-बिरंगे बाज़ार में बिखरे रंगों से आँखें सेकूँ, भी को देखूँ कि बचूँ....बहुत-सी चौहद्दियों में ख ी थी - तभी नगमा बोल उठी। आवाज़ की खनखनाहट तथा आँखों में खोयापन-सा था, मानों कई वर्ष पीछे चली गई हो। 'पता है - साहिल के लिए हलवे वाली गली से हलवा मँगाया जाता था....ब ा ताम-झाम होता था। हम दोनों (दोनों यानि पति-पत्नी) घर से निकलते....युद्ध स्तर की तैयारी के साथ....लालकिले तक का सफ़र तो रे फिर भी आसान रहता....बाद में तो घो े की चाल कछुए की हो जाती। फिर हलवे वाली गली तक पहुँचते-पहुँचते तो घिसटन ही बन जाती। मूँग की दाल का हलवा बँधवाया जाता। यह कोई आसान न होता। ढेर-सा असली घी.... इतना कि चू-चूकर ज़मीन पर गिरने को मज़बूर....ज़रा-सा चसकदार मीठा....ऐसा बाँध देना भाई कि घी कप ों में न लिस जाए। बार-बार इसरार किया जाता....फिर भी....।' थो ा-सा साँस लिया नगमा ने। साँस थी या कि आह, कह पाना मुश्किल।

'जानती हो, अख़बारों की तह की तह....उनमें से रिस कर भी घी कप ों तक पहुँच ही जाता.... कितनी सा ियाँ खराब हुई होंगी....।'

नगमा के चेहरे पर एक अजब तनाव था... कुछ कालिमा-भरी उदासी भी थी। उसने बताया तो नहीं था....पर क्या सभी बातें बताने से जानी जाती हैं। बोले बिना भी तो समझ ली जाती हैं और कुछ तो बहुत कहने-सुनने के बावजूद पल्ले न प तीं।....साहिल....उसका दामाद....पुत्री का पति....पता नहीं, पुत्री के पति क्या कभी अपने नहीं हो पाते हैं। मेरे तो दोनों बेटे हैं, तब भी मुझे पता है। सदा से ये भाव मेरे मन को सालता रहा है। कोई व्यक्ति दामाद बन कर अपनी पत्नी के घर के लोगों का अनादर कैसे कर सकता है? क्या सचमुच बेटी विवाह के बाद पराई हो जाती है....हो जानी चाहिये।....शायद नगमा के मन का कोई ज़ख्मी हिस्सा था, जो टीस रहा था।

माली वा ा आ गया। रिक्शावाला एक गली के मुहाने पर ही रुक गया। सिर ही सिर.... गिरते-प ते, भि ते लोगों का हज्ज़ूम....उसी में रिक्शा का रुक प ना....चलती स क के लिए कोई छोटी-मोटी चट्टान-सी अ चन न होती। मानो पहा ने गति को रोक दिया हो। इंसानी फ़ितरत भी अजब है... मौका परस्त....वक्त के हिसाब से ढल जाने की आदत के तहत मैं भी उसी तरह कोहनी को हथियार-सा इस्तेमाल करती रिक्शे से उतरी। मन में अपने लिए जगह बनाये जा सकने का भाव था। सामने की गली के मुहाने तक टूटी पटरी थी....जिस पर सीधी-उल्टी दोनों दिशाओं में लोग भागने की कोशिश कर रहे थे और उसी में टकरा जाने से रुक-रुक प ते थे। खुद को इस स्थिति से बचाती तो शायद यह चार-पाँच फीट का रास्ता भी तय न कर पाती। इन्हीं में से टकराती, टूटी पटरी से गिर प ने की स्थिति से बचती-बचाती, नगमा के पीछे-पीछे चली। एक धक्का लगा और मैं तथा नगमा गली में पहुँच गईं।

छह फुटी गली के दोनों ओर दुकानों की चाकचौंध थी। पहली चार दुकानों पर सा ियाँ टँगी थीं। एक सेकेन्ड के लिए निगाह उन पर टिकी। नगमा ने हाथ पक कर घसीटा....'यहाँ ऐसे चलीं तो यहीं शाम हो जाएगी...एक बज गया है तीन बजे नहीं कि गलियाँ नज़र भी न आएँगी। अभी तो चलना मुश्किल है, फिर रुक पाना भी न हो पाएगा।'

भागती-दौ ती-घिसटती मैं नगमा के पीछे-पीछे चल दी। लिथ ती चप्पल, घिसटती नगमा का भारी-भरकम शरीर, पीछे-पीछे बढ़ती चली जाती भी की कल्पना से डरती-सहमती मैं थी। अचानक नगमा किसी दरवाज़े में घुस प ी....मैं भी पीछे-पीछे घुसी। पर वह तो एक और गली थी। अब वह छह फुट की गली चार फीट हो आई थी। मकानों की ऊँचाइयों के कारण भी और ऊपरी मंज़िलों में लिंटर डाल कर दोनों ओर से एक-एक फुट बढ़ा कर गली की ऊपर की चौ ाई दो फीट कर दी गई थी। सिर उठा कर ऊपर देखा तो लगा कि कुछ गिर प ेगा, चक्कर-सा आ गया। गली में रोशनी की इतनी कमी थी कि नगमा दीख नहीं प रही थी। साथ की दीवार थाम कर मैं आगे बढ़ रही थी।

नगमा के मन के भीतर इन गलियों के सारे नक्शे बने थे। वो तो शायद आँख मूँद कर भी चल सकती थी। यही कारण था कि उसकी गठिया वाली चाल का भी मुकाबला मैं न कर पा रही थी। गली करीब दस-बारह मीटर लम्बी थी। ख़त्म हुई तो एक खण्डहरनुमा दरवाज़े के पास ख ी

नगमा बेचैन, मेरा इंतज़ार करती दीख प ी। एक टूटे-हिलते पत्थर पर पैर टिका कर नगमा दरवाज़े को ठेलती भीतर की ड्योढ़ी में धँस गई।

'कौन जाए जौक दिल्ली की गलियाँ छो कर'....क्या इन्हीं गलियों का जिक्र था उसमें। एक मोटी नस से छोटी बारीक होती नसों में जैसे खून बह कर शरीर को ताकत देता है, क्या ऐसी हैं ये गलियाँ। आट-दस फीट से छह फीट, फिर चार फीट तक होती ये गलियाँ क्या दिल्ली के दिल में खून का दौरा करती नसें हैं? शायद....यही होगा? कौन नसों के छोटे या ब े होने पर प्रश्न-चिह्न लगाता है....लगा सकता है?....बस हैं, तो हैं।

दरवाज़े के भीतर घुसी तो रोशनी बिल्कुल नदारद। नगमा ने हाथ पक कर सीढ़ियाँ दिखाईं। ऊपर से झाँकती हल्की झीनी-सी रोशनी अब दीखी तो सीढ़ियाँ भी साफ हुईं....बारह-बारह इंच ऊँची....। कहाँ गया हमारा सारा वास्तु विज्ञान, जिसके अन्तर्गत चढ़ने में पैर आसानी से मु पाए और घुटने पर जोर न प े, सिखाया जाता है। पूरा पैर ऊपर रख कर, सारा वज़न घुटने पर डाल, पूरा शरीर उठा कर दूसरा पैर सीढ़ी पर रखने में पूरा एक्रोबैटिक करना प ा तब कहीं जाकर पहली छह और थो ा मु कर बनी चार सीढ़ियाँ पार करनी प ीं। सीढ़ी के ख़त्म होते ही बायीं ओर दो फुट चौ ी एक गलियारी थी। 'क्या गणित है?'....मुझे हँसी आ गई। 'दस फीट से शुरू हो कर ये गलियाँ धीरे-धीरे कम होती-होती दो फुट पर पहुँच गईं।' अब तक तो मुझे अपने दिल्ली ज्ञान के झूठे होने का अहसास हो गया था। रिंग रोड पर अस्सी की गति से मारुति कार चलाने वाली मैं और मेरा दिल्ली की सभी कॉलोनियों का ज्ञान भ्रम साबित हो उठा था। मैं आसमान से पाताल में गिर प ी थी। इस दो फीट की गलियारी से जरा आगे बढ़े तो एक दरवाज़ा था। दरवाज़ा भी चार या साढ़े-चार फीट ऊँचा होगा। उसमें सिर झुका कर ही अंदर घुसा जा सकता था। वहाँ पहुँचे तो लगा कि शायद मंज़िल पर पहुँच गए हैं।

'क्या यहीं हीरों की ज ाई होती है?' मेरे कथन में प्रश्न से अधिक आश्चर्य था।

'हीरे-पत्थर सभी को बराबर महत्व देने वाले ज़हीन लोग हैं यहाँ तो। पत्थर भी ज दें तो हीरा लगे, फिर हीरा तो हीरा ही है।'

दरवाज़ा काफी ऊँचाई पर था। नीचे कोई पत्थर भी नहीं रखा था। रखा भी कहाँ जाता? दो फीट चौ ी गलियारी थी। उसमें दोनों पाँव रख कर कदम बढ़ा लिए जा सकें तो बहुत। फिर से उठा-पटक करती हम दोनों दरवाज़े के भीतर समा गईं।

भीतर तो और भी हैरत-अंगेज़ नज़ारा था। अँधेरी चार गुणा चार की एक कोठरी थी। तीन-चार लोग अपने-अपने पास ट्यूब-लाइट वाले लैम्प लगाए हीरे-जवाहरात की ज ाई में डूबे थे। अजब दास्तान है ज़िन्दगी भी। इतनी नफासत से हीरों का काम करने वालों की ज़िन्दगी अँधेरों से भरी थी, और उसे पहनने वाले....उनका अँधेरे कोने-कुचीलों से क्या वास्ता?

सीधे हाथ की तरफ दो मूढ़े रखे थे। शायद हम जैसे लोगों के लिए ही थे। उसी के आगे, जरा-सा नीचे, फिर एक छह गुणा आठ का कमरा-सा दीखा। वहीं एक कोने में टेलीफोन भी था। चटाई बिछी थी, उसी पर चार बच्चे, यही कोई नौ से बारह तक की उम्र के होंगे, अपने सामने वैसी-ही ट्यूब-लाइट वाले लैम्प रखे मोतियों की मालाएँ पिरोने में मशगूल थे। हम भीतर धँस गए मूढ़ों पर बैठ गए। किसी ने आँख उठा कर भी नहीं देखा। अनदेखे-अनजान से हम दोनों मूढ़ों पर हाँफते-से बैठ गए।

उम्र कोई पैंतीस-चालीस या हो सकता है इससे भी कम के हों, आँख उठा कर (अपनी आतशी शीशे वाली आँख को बंद किए-किए) देखा तो नगमा बोली 'कहिए दादा, कैसे मिज़ाज हैं?'

'दया है उसकी....' दादानुमा उस व्यक्ति ने ऊपर की ओर हाथ उठा दिए।

'जी दादा, वो तो है ही। अल्ला तो सबको देखता है। उसके बिना तो पत्ता भी नहीं हिलता। सब उसी की मेहर है....दादा ! ये मेरी छोटी बहन है। कुछ काम करवाना चाहती है।' नगमा ने मेरा तअर्रुफ़ करवाया।

'ओवश्य..ओवश्य....दीजिए।' दादा कहलाए जाने वाले व्यक्ति बंगाली हैं, यह स्पष्ट था।

मैंने हीरे की टूटी अँगूठी उनकी ओर बढ़ाई, टूटी अँगूठी से डिज़ाइन समझाया। नाप दिया।

तब तक नगमा मोती पिरोते बाल-परिवार की ओर मुख़ातिब हो कर उनका हाल-चाल पूछने लगी। मेरा ध्यान उन बच्चों की वज़ह से अपनी अँगूठी में नहीं लग पा रहा था। ये जरा-जरा-से बच्चे,

जिनकी आवाज़ भी अभी नहीं फटी थी जिनके चेहरों पर मूछों-दाढ़ी की रेखाएँ भी अभी नहीं फूटी थीं, इतने बारीक-नफ़ीस काम में जुटे अपनी आँखें फो` डाल रहे थे। हम पहुँचे ही एक बजे के बाद थे। तब तक बहुत-सी पिरो दी गईं मालाओं के ढेर लग चुके थे। सोने के टुक ों में धागे बाँधे जा रहे थे। मोती और सोने की टिकि याँ मिला कर चन्द्रहार बनाये जा रहे थे।

दादा अपने काम में माहिर थे। जल्द ही सब कुछ समझा, हीरे गिने, नोट किया, हिसाब लगाया, नाम लिखा, पु िया बनाई, नाप का नम्बर, पैसों का अंदाज़ सभी लिख कर मुझे एक काग़ज़ थमाया और फिर काम में जुट गए। इतने कीमती समय को बर्बाद करने की गुंजाइश ही कहाँ थी?

सिर पर पग्ग बाँधे एक और आदमी दाखिल होता दिखाई दिया। उसने अपना चमरौधा कोने में उतारा और भीतर धँसने लगा तो नगमा चहक उठी 'आदाब ताऊ, कैसे मिज़ाज हैं?'

'अहा ! नगमा बेट्टी। थरी दुआ हैगी। कैस्से हैं सब? बेरा है तैन्ने। तेरा भाई, वाई जो पिछली बारयों मिल्या था, विदेस चल्या गया....वाई....कै कैवें....अमरीका।'

'अच्छा....क्यों ताऊ?'

अरे ! याही....मोती-सोन्ने का काम करन की कोसिस कर रह्या था। कोई जान-पहचान वाल्ला था। ओस ने ही बुल्ला लिय्या।'

'अच्छा....आपको कैसा लग रहा है ताऊ।'

'कै बताऊँ बेट्टी। इब्ब, इन बच्चयां ने तो जान्ना ही प`गा। अपना तो गुजारा हो गय्या इस गुचकुलिये में....इहाँ ही मरर जावेंगे। वा तो खुल्ली हव्वा में साँस लैं लें।'

मैं चुपचाप दोनों की बातें सुन रही थी और उन बच्चों की स्थिति को देख कर अंदर ही अंदर सुलग भी रही थी। तभी नगमा बोली 'ताऊ ! ये मेरी छोटी बहन है। अदब पढ़ाती हैं यूनिवर्सिटी में।'

'बहुत अच्छा है। बेट्टियाँ पढ़-लिख लैं, तो अच्छा लागै हैं। इब तो जमाना बदल गया हैगा।'

और ताऊ एक सीढ़ी नीचे उतरे और उस छोटे-से कमरे में जाकर बैठ गए। भाषा से हरियाणा के हैं, लग उठा था। अब उनके साथ-साथ ध्यान कमरे के और कोनों की ओर भी गया। कमरे के साथ जु ा एक खंबा बाहर की ओर निकला दीखा। वैसा ही एक खंबा दूसरी ओर भी था। ध्यान से देखने पर पता चल रहा था कि यह खंबा, वास्तव में ऊपर की मंजिल की चूल थी जो एक सिरे से दूसरे सिरे तक जु ी होगी। वक्त बीतते न बीतते यह चूल खंडहर बनती इमारत के साथ टूट गई थी। मुझे हैरानी भी हुई और डर भी पैदा हुआ। बिना चूल के इस कमरे में बैठे लोगों का हश्र सोच कर रीढ़ की हड्डी में एक सुरसुरी-सी हुई।

'जा....सूरज की रोशनी समेट ला आँक्खाँ में....नजर साफ हो जावैगी।'

बैठते-बैठते ये बात मोती पिरोते उस सफ़ेद कमीज़ वाले ल के से कही गई थी और मैं सोच रही थी - 'देखें क्या गुज़रे हैं कतरे पे, गुहर (मोती) होने तक', जिसने ये बात कही थी, वो मियाँजी किस्म के व्यक्ति थे। खुले पाँयचों का पाजामा, ऊपर मटमैली-सी लम्बी कमीज़, सिर पर टोपी, मुँह में पान दबाए, कब उस कमरे में दाखिल हो गए थे, देख ही न पाई थी। शायद कतरे के ख़ाक हो जाने में डूबी थी। उन मियाँजी ने भीतर आते ही उस बच्चे को आँख मिचमिचाते देख लिया था, शायद तभी बोले थे। बैठते-बैठते उसकी निगाह हम पर प ी 'अरे बाजी, आदाब, कैसे मिज़ाज हैं?'

'शुक्र है अल्लाह का....आप कैसे हैं मियाँजी?' नगमा ने पूछा था।

'जी बस सब दुरुस्त है। उसका रहमोकरम रहना चाहिए।'

मैं उस छह गुणा आठ के कमरे में छह जनों को काम में मशगूल देख कर भौंचक थी तभी नगमा ने पूछा 'ये बच्चे नए दीख रहे हैं?'

हाँ बाजी ! सभी अपने ही रिश्ते से हैं। गली-गली मारे-मारे फिरे थें मरदुए। मदरसे भी तो न जावैं थे। रिश्ते में कोई भतीजा, कोई भांजा हैगा....पहले घर में ही काम कराऊँ था....पर टिकते न थे....ज़रा-सा इधर-उधर हुए तो ये जा....वो जा....स्सा....।'

मियाँजी कनखियों से मेरी ओर देख कर चुप हो गए।

'पर ये सब तो बहुत छोटे हैं....कम उम्र हैं ना' मुझसे कहे बिना रहा न गया।

'हैं तो बहन। पर क्या करैं। ससुरे न पढ़ैं न काम करैं। अब बैठा के तो कोई शहंशाह भी न खिला सकै। ये जो सलीम हैगा....बाहर गया अभी....सात बहने हैं। बाप यहीं किसी दुकान पे

बैठा हैगा....अब क्या कमाय लै....क्या खालै-क्या खिला लै....फिर सारा-सारा दिन आवारागर्दी करै थे....यहीं बिठा लिया।' मियाँजी के चेहरे पर सचमुच दुःख झलक आया था।

'पर....इनकी आँखें....इतना बारीक-नफ़ीस काम, फिर घंटों लगातार....'

मेरे ज़ेहन में ढेर सारे प्रश्न थे। पूछूँ कैसे का सवाल भी अहम् था।

मियाँजी थो ा चुपा आए थे, फिर बोले 'बाजी ! आप तो पढ़ी-लिखी हो। कानून जानो हो। पर पेट का कनून उसकी किताबों से अलग हैगा। नाली के की -मकौ -मच्छर देखे हैं बाजी....उन्हें निकाल कर साफ-सुथरे कमरे में छो दो....मरे....कोने-कुचीले ढूँढ ही लेवैं।....फिर आँखें फूटें या दीदे निकले....पेट तो नहीं निकाल सकते ना।'....

बोलते-बोलते मियाँजी, पता नहीं लगातार बोलने के कारण या फिर दुःख की बहुतायत के कारण हाँफने लगे थे। थो ा रुक कर फिर बोले 'पर बाज़ी ! ठीक तो कहती हैं आप भी। मैं दिखाऊँगा इन्हें आँखों के डागदर को, कोई दवा-दारू तो होनी ही चाहिए, हैं तो अपने ही बच्चे।'

मेरा मन भर आया। थो -से सुकून के भाव से मैंने कहा 'यहाँ रोशनी भी बहुत कम है....काम बहुत बारीक है....सूरज की एक किरण भी नहीं....दिन में भी अँधेरा....'

हाँ बहन ! सब सही है, तभी तो बल्ब नहीं ये ट्यूब लैंब मुहैया करवाए हैंगे। ये सभी मेरे सगे हैं। इन्हें दर्द होता हैगा तो मेरा ही मन दुःखता है....मुझे देख रही हैंगी। अभी चालीस साल की उम्र....और इतना मोटा चश्मा। आँखों के खराब हो जाने का दर्द क्या होता हैगा, मैं जानूँ हूँ।'

मियाँजी दोहरे दर्द से त प-सा गए। नगमा ने मरहम-पट्टी करते हुए कहा 'माफ कीजिए मियाँजी, ये मेरी छोटी बहन यूनिवर्सिटी में अदब पढ़ाती हैं, इसलिए इतनी बहस-मुहासिबा कर रही हैं।'

मैं न तो उनके जख़्म कुरेदना चाहती थी, न ही उनकी दुखती रग पर हाथ रखना चाह रही थी। किताबी या अखबारी पढ़ाई के अनुसार यही जानती थी कि बाल मज़दूरी गुनाह है....इतना ब ा गुनाह कि करवाने वाले को सज़ा मिलनी चाहिए। अभी पिछले दिनों ही दीवाली पर पटाखे न चलाए जाने का अभियान किया गया था, स्कूल के बच्चों ने अनेकों तरीकों से यह बात लोगों तक पहुँचाई थी। कारण था कि पटाखों की सभी फैक्ट्रियों में काम करने वाले ये खेलने-खाने की उम्र के बच्चे कैसे आग के गोलों पर बैठे ज़िन्दगी बिताते हैं। शायद ज़िन्दगी ही उन्हें छोटी-सी उम्र में निगलने आ जाती है। जाने कितनी खबरें....कितने लेख....कितने दूरदर्शन के प्रोग्राम देखे थे....सभी ने आज दम तो दिया। समस्या का कानूनी हल कुछ भी हो, यथार्थ तो कुछ और ही था और फिर कितना क वा था....कानून सिर्फ एक मीठा मुलम्मा था। शुगर कोटिंग-मात्र, एक थ्योरी जो किताबों के लिए थी। पटाखों के ढेर पर बैठे कार्बन फाँकते, या फिर मोतियों के ढेर पर बैठे आँखें फो ते इन बच्चों की स्थिति के सच में तो कोई फर्क न था।

पता नहीं इन्हें कोई रोशन जगह क्यों नहीं मुहैया करवाई जा सकती? क्यों कोई इन्हें खुली हवा, धूप नहीं दे सकता?

'मियाँजी माफ कीजियेगा, अब तो शहर इतने फैलते जा रहे हैं आप लोग अभी भी इन अँधेरे गलियारों से क्यों जु हैं?'

'चाहता तो मैं भी हूँ कि यहाँ से कट जाऊँ। बहुत बार चाहता रहा हूँगा। इसके लिए बहुत बार बहुत तरीकों से कोशिश भी की हैगी। पर....बाजी, इन गलियारों में कितनी सुरक्षा का एहसास होता हैगा....अपने आस-पास की कालोनियों और फार्म हाउसेज़ की खबरें तो पढ़ी ही होंगी....रोज का अख़बार इसीसे भरा रहता हैगा।'

मेरी आँखों के सामने पिछले दिनों के अख़बार की ख़बरें घूम गईं। पहले कभी तीसरे पन्ने की ये ख़बरें अब पहले पन्ने की हो गई हैं। आज हम किस दहशत और असुरक्षा के बीच जीने लगे हैं। इस स्थिति को ढेर-से विशेषणों को लगा कर भी क्या व्याख्यायित किया जा सकता है? मियाँजी ने ही मुझे चुप देखकर कहा....

'हमारा काम ही ऐसा हैगा बाजी। इतने कीमती ज़ेवर हमारे यहाँ प रहते हैंगे। कुछ हो हवा जाए तो खुद को बेच कर भी चुका सकना नामुमकिन। हमेशा एक डर, एक भार-सा रहता हैगा सीने पर। सिर पर जैसे तलवार लटकी हो। यहीं इन गली-गलियारों-कोठरियों में जहाँ सूरज की किरण भी घुस न पाए, वहाँ पर भी ये काम करने के ढेर से जोख़िम हैंगे, कहीं बाहर कैसे जावें?'

दो बजने वाले थे। उन बच्चों के द्वारा पिरोयी मालाएँ मन को लुभा तो रही थीं, पर मन का कोई कोना टीस भी रहा था। नगमा और मैं, आदाब और नमस्कार करती नीचे उतर आई थीं। स क वास्तव में अब नज़र न आ रही थी। कुछ खाने और चाय पी लेने के भाव से नगमा पराठेवाली गली की ओर चल दी। गालिब की इस दिल्ली को देखने की अजब उत्सुकता मन में जाग उठी थी। पूछने पर नगमा ने ही बताया - 'ये गली, सीधा चलते जाओ तो किनारी बाज़ार से होती हुई दरीबा पहुँच जाती है। दायीं ओर ढेर-से कटरे हैं। बायीं ओर पराठेवाली गली, शॉलवाली गली, और भी जाने कितनी गलियाँ हैं. . . .ढेर-सी हवेलियाँ हैं।'

सामने दीख प ती एक हवेली की ओर इशारा करते हुए नगमा ने बताया 'जानती हो, ये हवेली नहीं एक मुहल्ला है। हर हवेली एक पूरा हिन्दुस्तान है जो जाति, धर्म, वर्ग किसी भेद-भाव को नहीं जानता। अजीब बात है. . . .जाति व धर्म के कारण होने वाले दंगों से अख़बार भरे रहते हैं पर यहाँ इन हवेलियों में बसते सैक ों परिवारों के बच्चों को खेलता देख कर ये पता लगाना मुश्किल होता है कि कौन किसके बच्चे हैं। मानों एक जु ा परिवार हो जिसमें आलू, प्याज़, नमक चीनी तो नदी के पानी से इधर से उधर जाते रहते हैं - एम.सील लगा कर जु े हों मानो - त्योहार सभी साँझे हो जैसे। उधर जामा मस्ज़िद पर रोज़ों के आस-पास बिकती शीरमाली रोटियाँ बननी शुरू हुईं, इधर शाम का खाना बंद। बच्चे तो पराठेवाली गली पहुँचे, पराठा, रब ी खाई और फिर खेलने निकल गए।'

पराठेवाली गली तक पहुँचते-पहुँचते मैंने शिमला की मटर, सेंजने के फूल, काला चाट मसाला, काली गाजरें, ताजा इमरती, मेरठ की रेव ी-गजक, और फिर ताज़ा-तरीन खुरचन और गाजर का हलवा, जाने क्या-क्या पैक करवा लिया था। इत्तफाकन झोला नगमा के पर्स में निकल आया था। हैरानी इस बात पर थी, चाय की दुकानें थीं तो, पर एक भी ऐसी नहीं कि बैठ कर पी पाते।

तभी नगमा के सुझाव को मानते हुए कढा-गुलाबी-मलाई डला दूध पीने का निश्चय हुआ। दूध पिया, गला तर हो गया।

यही जरा-सा सफ़र लम्बाई-चौ ाई-गहराई में था तो कुछ मीटर का, पर गुणात्मक इतना कि असलियत की हज़ारों परतें मेरे सामने खोल गया था।

दूध पीकर आगे आए तो बैठ गए, उन्नीसवीं शती से चली आती पराठेवाले की दुकान पर, जिनके पराठों की चर्चा विदेशों में भी है। प दादा से प पोते तक वो ख़ासियत विरासत में मिली है। उस दिन इन पराठों को खाने की इच्छा तो पूरी हुई ही, सीखने का मौका भी मिल गया। पाप तेल में तला, चूरा बनाया और लोई में परत लगा कर भर दिया। पाप का पराठा पाप जैसा क क व करारा. . . .परत वाला पराठा। लोई को रोटी के आकार का बेल लिया। सोलह टुक ों में काटा और घी की परत देकर एक-दूसरे पर इकट्ठा कर बेल कर सेंक दिया. . . .खोलो, तो एक-एक परत अलग।

'हज़ारों ख़्वाहिशें ऐसी कि हर ख़्वाहिश पे दम निकले।' किस-किस ख़्वाहिश को पूरा करती? वक्त ही कहाँ था? किनारी बाज़ार के गोटे-किनारी से लदे-फँदे बाज़ार में घुसती या फिर दरीबे के ज़ेवरात के शो-केसेज़ की सजावट देखती या फिर कटरा अशरफी, शॉलों वाला कटरा. . . .जाने कहाँ-कहाँ?

पिछले दिनों ही विदेश से लौटी थी। वहाँ पाँच वर्ष बिताए थे। जीवन के सुख, घरों का वैभव, रहने-सहने के ठाट-बाट, कामकाजी मशीने, चौ ी साफ-सुथरी गंदगीरहित स कें, कहीं धूल-धक्क का नाम नहीं, यानि कुल मिला कर एक सुखद साफ, प्रदूषणरहित जीवन। यह अधिक सुखद माधुर्य, अधिक मिठास के क वेपन का एहसास दिलाता रहा था। इन गलियों-गलियारों में पता नहीं क्या था, जो जो रहा था, शायद अपना होने का एहसास था। हवाई जहाज की यात्रा करते हुए जिस परायेपन को महसूसा था, जो विदेशी ज़मीन पर मिला था, यहाँ अब समाप्त था। मानो मिट्टी-गारे के नीचे दबी ये मेरी ज ें थीं, जो मुझे वक्त-बेवक्त ताकत देती थीं, जो मन के भीतर मिट्टी की सोंधी महक से महकती थीं, धमनियों में खून बनती थीं, जिनसे मैं ज़िन्दा थी. . .वे ही यहाँ मिल गई थीं।

लौटने का वक्त हो चला था। चार बज चुके थे। वे चार-छह फीट वाली गलियाँ अब लोगों का हज्जूम बन गई थीं। दिल्ली के दिल में खून का दौरा अपनी पूरी गति पर था। एक अजब-सी शांति से पहले की भाग-दौ थी यह। इन गलियों के भीतर धँसना आसान न था, पर उनसे बाहर निकलना तो और भी मुश्किल हो उठा था। फिर बाहर निकल कर थ्री-व्हीलर पक ना. . .जाने कितनी मुश्किलें थीं. . . .पर इतनी कठिनाइयों में भी मज़ा आने लगा था। यह कठिन सफ़र जानलेवा नहीं लग रहा

था। विदेशों में अचानक अनेक मिली आसानियाँ भी नागवार गुज़र रही थीं. . . .बोरियत की हद तक। और. . . .अब भी के ताने-बाने में फँसी मैं बिल्कुल बोर नहीं थी। शायद यही मेरी असलियत थी।

ये सफ़र दिल्ली के दिल का नहीं था, चौक की चाँदनी भरी स कों की चमक का नहीं था। मालीवा` से लेकर किनारी बाज़ार तक के गली-कूचों का नहीं था। ये कोई देह-यात्रा नहीं थीं, ये तो मेरे. . . .मेरे भीतर का सफ़र था। इसमें तो मैं, मेरी रूह ध क रही थी, जिसे मैं जानती तक न थी। आख़िर दिल के ध कने का एहसास कहाँ होता है, वो तो ज़िंदा रहने की शर्त भर है।

दोनों हमारे हाथ में हैं

डा. किशोर काबरा

तरण या तारण बनें - दोनों हमारे हाथ में हैं।
मरण या मारण बनें - दोनों हमारे हाथ में हैं।

त्याग ने जग को जगाया, भोग ने जग को रुलाया,
राम या रावण बनें - दोनों हमारे हाथ में हैं।

एक में ज ता छिपी है, एक में चपला छिपी है,
शीत या सावन बनें - दोनों हमारे हाथ में हैं।

कष्ट देना बात है कुछ, कष्ट सहना बात है कुछ,
छेद या छाजन बनें - दोनों हमारे हाथ में हैं।

फल मिलेगा या नहीं - यह सब नियति के हाथ में, पर -
कर्म या कारण बनें - दोनों हमारे हाथ में हैं।

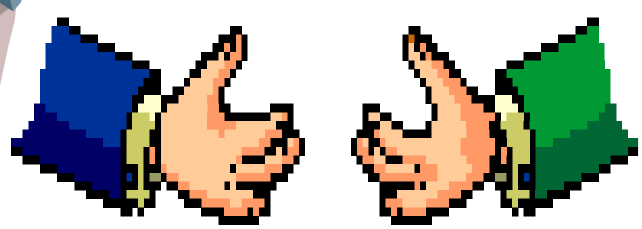

रोज़गार और हिन्दी

डॉ. परमानंद पांचाल

आजीविका का प्रश्न मनुष्य के सामने सदा से रहा है। हज़ारों वर्षों से मानव-समूह एक स्थान से दूसरे स्थान तक और एक देश से दूसरे देश तक रोज़गार की तलाश में भाग्य आज़माते रहे हैं। आज भी यही स्थिति है। आज का प्रत्येक नवयुवक भी वही भाषा और वही तकनीक सीखना चाहता है, और वहीं जाना चाहता है जहाँ उसे रोज़गार मिल सके। इसके लिए आज अीधकांश नवयुवक विदेशों, विशेषकर अमरीका की ओर ताकते हैं। उसके रोज़गार का ग्राफ भी आज अमेरिका में काम करने के बढ़ते अवसर पर ही निर्भर करता है। लगता है कि हमने अपनी शिक्षा को विदेशों में नौकरी की संभावनाओं को तलाशने का आधार ही बना दिया है। यही कारण है कि आज भी एक विदेशी भाषा जो इस देश में विजेता की भाषा के रूप में थोप दी गई थी, रोज़गार की प्रमुख भाषा बनी हुई है। हमारे नवयुवकों का भाग्य एक विदेशी भाषा पर टिका है। एक समाचार पत्र की सुर्खी है कि 'बेल आउट पैकेज पाने वाली अमेरिकी कंपनियाँ नहीं दे सकेंगी एच-१ बी धारकों को नौकरी।' इस प्रावधान से सबसे अधिक प्रभावित होंगे भारतीय आई. टी. पेशेवर। इससे पहले भी एक ऐसी ही खबर आई थी कि 'ब्रिटेन ने अपने दरवाज़े बंद किए नौकरी चाहने वाले विदेशियों के लिए।' इसका प्रतिकूल प्रभाव प ेगा भारतीयों पर और निश्चय ही अँग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर वहाँ नौकरी पाने वालों पर। प्रश्न उठता है कि क्या हम अपने देश में उन्हें ये अवसर उपलब्ध नहीं करा सकते हैं? हाँ, करा सकते हैं। किन्तु इसमें हमारी शिक्षा-नीति आ े आती है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

हम इतिहास के कुछ पन्ने पलटें तो पाएँगे कि यहाँ अँग्रेज़ों के आने से पहले फ़ारसी राजभाषा थी। सिकन्दर लोधी के समय से फ़ारसी को राजभाषा बनाया गया और मुग़ल साम्राट अकबर के समय में राजा टोडरमल के परामर्श पर इस आशय का पुनः फ़रमान जारी कर फ़ारसी को सरकारी भाषा बना दिया गया। कहा जाता है कि मुग़ल शासन में ७०प्रतिशत पद फ़ारसी जानने वालों को ही दिये जाते थे। इससे देश में फ़ारसी भाषा का वर्चस्व बढ़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में आगमन और सत्ता पर काबिज़ होने के बाद लार्ड मैकाले के परामर्श से अँग्रेज़ी को शासन की भाषा बनाया गया। १८४४ ई. में लार्ड हार्डिंग की ओर से एक घोषणापत्र जारी किया गया, जिसके द्वारा सरकारी नौकरी के लिए कर्मचारियों का चयन केवल अँग्रेज़ी भाषा का ज्ञान और अँग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्ति के आधार पर किया जाने लगा। स्पष्ट है कि ब्रिटिश साम्राज्य का उद्देश्य जनता को शिक्षित करना नहीं था। उन्हें तो ऐसे बाबुओं और कर्मचारियों की आवश्यकता थी जो सरकारी आदेशों को लोगों तक पहुँचाने, शासन-व्यवस्था को चलाने, लगान तथा कर आदि वसूल कराने में उनकी सहायता कर सकें और अँग्रेज़ी साम्राज्य के स्वामी-भक्त बने रहें। यह कार्य अँग्रेज़ी भाषा की शिक्षा ने ही किया।

देश के स्वतंत्र होने के बाद महात्मा गाँधी और राष्ट्रीय आंदोलन के अन्य नेता नहीं चाहते थे कि अँग्रेज़ों के जाने के बाद अँग्रेज़ी भाषा इस देश के शासन की भाषा बनी रहे। इसीलिए भारत के संविधान में हिन्दी को राजभाषा का दर्जा प्रदान किया गया। आशा की जाती थी कि हिन्दी रोज़गार से जु ेगी और शासन तथा निजी क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग बढ़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं हो सका। आज हमें यह कहते हुए खेद है कि हिन्दी और भारतीय भाषाएँ अँग्रेज़ी का उचित स्थान नहीं ले सकीं। सरकार के सारे प्रयत्नों के बावजूद हम हिन्दी को पूर्णतः सरकारी काम-काज की भाषा नहीं बना सके। जबकि आज़ादी से पूर्व राजपूताना और मध्यप्रदेश के रजवा ों की सरकारी भाषा हिन्दी ही थी। स्वतंत्रता के बाद इतना अवश्य हुआ कि हिन्दी के नाम पर कुछ पद बने और हिन्दी में रोज़गार के कुछ अवसर उपलब्ध हुए। हिन्दी के पूर्णतः राजभाषा न बनने के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें राजनैतिक इच्छा-शक्ति की कमी, भूमण्डलीकरण का प्रभाव, सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में युगांतरकारी परिवर्तन और कम्प्यूटर जैसी तकनीक का सार्वजनिक जीवन में प्रवेश तथा एकल विश्व शक्ति की भाषा के रूप में अँग्रेज़ी का बढ़ता वर्चस्व आदि। किन्तु यह बात अवश्य है कि हम विश्व के एक सबसे ब े लोकतंत्र की राजभाषा हिन्दी को विश्वपटल पर स्थापित करने की बात तो करते रहे हैं, सही अर्थों में

अपने ही देश में इसे प्रतिष्ठित नहीं कर सके। हम इसे इतने वर्षों के बाद भी न तो पूर्णतः राज-काज की भाषा बना सके और न इसे रोज़गार के साथ जो सके।

रोज़गार की सम्भावनाओं के दो प्रमुख क्षेत्र हो सकते हैं। एक सरकारी क्षेत्र और दूसरा निजी क्षेत्र। जहाँ तक सरकारी क्षेत्र का प्रश्न है, स्वतंत्रता के बाद जैसा कि पहले कहा गया है कि हिन्दी के लिए रोज़गार के अवसर तो बढ़े किंतु वे सम्पूर्णता की तुलना में नगण्य ही हैं। यदि हम सरकारी सेवा में उपलब्ध रोज़गार के अवसरों पर विचार करें तो देखेंगे कि भारत सरकार में रोज़गार प्राप्ति का सबसे प्रमुख अभिकरण संघ लोकसेवा आयोग है। उसी के द्वारा अँग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी और भारतीय भाषाओं के माध्यम से भारतीय प्रशासनिक सेवा आदि की परीक्षाएँ ली जाती हैं और उच्चतम पदों तक पहुँचने के दरवाज़े यहीं से खुलते हैं। यह अच्छी बात है और इससे सरकारी सेवाओं में रोज़ागर के अवसर सभी के लिए उपलब्ध हैं। किंतु खेद है कि सरकार द्वारा १९६८ का वह संकल्प अभी भी पूरी तरह लागू नहीं हुआ है जिसमें कहा गया है कि 'संघ सेवाओं अथवा पदों के लिए भर्ती करने हेतु उम्मीदवारों के चयन के समय हिन्दी अथवा अँग्रेजी में से किसी एक का ज्ञान अनिवार्यतः अपेक्षित होगा।' इस प्रकार सरकारी सेवा में प्रवेश के लिए अँग्रेजी की अनिवार्यता तो बनी हुई है, हिन्दी की नहीं। फलतः हिन्दी के ज्ञान के बिना तो केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में आ सकते हैं, किंतु अँग्रेजी के बिना नहीं। परिणामतः अँग्रेजी भाषा का वर्चस्व आज भी बना हुआ है, जो अँग्रेजी माध्यम के स्कूलों का प्रसार करता है। यही कारण है कि आज अँग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूलों की गाँव-गाँव, नगर-नगर में एक बाढ़-सी आ गई है। इन्होंने एक उद्योग का रूप ले लिया है। कहना न होगा कि इनमें उद्योगपतियों, अनेक जन-प्रतिनिधियों अर्थात् संसद-सदस्यों से लेकर विधायकों, पार्षदों और पूँजीपतियों का पैसा लगा है, जो अपने लाभ के लिए हिन्दी और भारतीय भाषाओं के विकास में सबसे ब ी बाधा बन गये हैं। यदि इस संकल्प के अनुसार अँग्रेजी की अनिवार्यता हटा दी जाए तो इससे देश तो नहीं टूटेगा, जैसा कि बहुधा भ्रमित किया जाता है, किंतु अँग्रेजी माध्यम के इन स्कूलों का यह मायाजाल अवश्य ध्वस्त हो जाएगा और हिन्दी तथा भारतीय भाषाएँ रोज़गार से सीधे जु जाएँगी।

कहना न होगा कि ज्ञान आयोग के अध्यक्ष श्री सैम पित्रोदा का यह सुझाव कि अँग्रेजी को पहली कक्षा से ही अनिवार्य बना दिया जाए, भ्रम पैदा करते है और अनावश्यक रूप से हिन्दी और भारतीय भाषाओं की उपेक्षा करता है। समझ में नहीं आता कि उन्होंने देश की मान्य राजभाषा हिन्दी के प्रयोग पर क्यों चुप्पी साध ली। इसका संदेश निश्चय ही विपरीत दिशा में जाता है।

हिन्दी के क्षेत्र में रोज़गार की सम्भावनाएँ :

आज का युग सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। भारत भी इस क्षेत्र में अग्रणी भूमिका निभा रहा है। रोज़गार के अनेक अवसर इस क्षेत्र में मिल रहे हैं, किन्तु उनका माध्यम अँग्रेजी भाषा ही बना हुआ है। जब हम रोज़गार के क्षेत्र में हिन्दी की वर्तमान स्थिति और भविष्य की संभावनाओं पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि अँग्रेजी की इस चकाचौंध में भी हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। आवश्यकता इसके प्रयोजनमूलक पक्ष को आगे बढ़ाने और ऐसे क्षेत्रों को युवकों की जानकारी में लाने की है, जहाँ हिन्दी में रोज़गार की संभावनाएँ अधिक उपलब्ध हैं। यहाँ हम ऐसे कुछ क्षेत्रों पर विचार करेंगे।

(१) 'भाषाई उद्योग' के रूप में अँग्रेजी का वर्चस्व सर्वविदित ही है। आज अँग्रेजी (अमेरिकन) ने रूस, चीन और जापान आदि देशों में भी अपनी जगह बना ली है। अँग्रेजी का यह स्थान निश्चित रूप से एक साहित्यिक या अँग्रेजी अस्मिता का न होकर केवल व्यापारिक और औद्योगिकी ही है। अतः औद्योगिक परिप्रेक्ष्य में एक उद्योग के रूप में भी आधुनिक हिन्दी का प्रशिक्षण दिया जाए। आज हिन्दी देश-विदेश में पढ़ाई जाती है। अकेले अमेरिका में ही लगभग १५० विश्वविद्यालयों में हिन्दी की पढ़ाई होती है। हिन्दी शिक्षण हेतु पाठ्यक्रम आधारित दृव्य-श्रव्य सामग्री की ब ी माँग रहती है। इस दिशा में कार्य किया जाए। यह अपने में एक ब ा मार्केट सिद्ध होगा। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति श्री बुश अमरीकी लोगों को हिन्दी सिखाने का आहवान कर ही चुके हैं।

(२) आज मनोरंजन उद्योग के क्षेत्र में भी हिन्दी की अपार संभावनाएँ हैं। सिनेमा जगत में विभिन्न कार्यों के लिए हिन्दी का ज्ञान उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी है। हिन्दी में पट-कथा लेखन और सशक्त संवाद के लिए कुशल लेखक चाहिए, काव्य और संगीत रुचि के साहित्यकार इस उद्योग के लिए निश्चय ही अपना उच्चस्थान प्राप्त कर सकते हैं। कहना न होगा कि हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दिनोंदिन बढ़ रही है। इस पर श्री मनोज रघुवंशी ने अपनी फिल्म 'बॉलीबुड में

हिन्दी' में अच्छा प्रकाश डाला है। शिक्षा के क्षेत्र में भी हिन्दी फिल्मों का प्रयोग देश में ही नहीं विदेशों में भी बढ़ रहा है। यहाँ हिन्दी ही रोज़गार की कुंजी है। एनीमेशन फिल्मों तथा कार्टून फिल्मों में हिन्दी का प्रचलन बढ़ रहा है। विदेशी 'प्रोडक्शन्स' भी हिन्दी में डब होकर आ रहे हैं। फिल्म 'स्लमडॉग' में गुलज़ार की भूमिका इसका उदाहरण है। आज अधिकतर चैनल जैसे स्टार न्यूज़, जी टी. वी. सहारा, आज तक, २४घंटे समाचार हिन्दी में प्रसारित कर रहे हैं।

(३) जन-संचार के क्षेत्र में हिन्दी माध्यम का प्रयोग निरंतर लोकप्रिय होता जा रहा है। अधिकतर चैनल अब हिन्दी में ही अपना प्रसारण करते हैं। देखने में आया है कि राजनीति से जु ् अधिकतर व्यक्ति हिन्दी में समाचार सुनना अवश्य पसंद करते हैं। वे जानते हैं कि उनका संदेश हिन्दी के माध्यम से ही ठीक प्रकार से जनता तक पहुँच सकता है। 'डिस्कवरी', 'नेशनल ज्योग्राफिक', और 'कार्टून' एनीमल वर्ल्ड तथा खेल जगत से जु ् अँग्रेजी प्रसारण अब हिन्दी में डब होकर या रूपांतरित होकर आ रहे हैं। इस क्षेत्र में अनुवाद, डबिंग, सब टाइटलिंग, सार लेखन, संवाद लेखन तथा ई-मेल आदि के लिए हिन्दी के ज्ञान की आवश्यकात है। टी.वी.चैनलों पर अधिकांश चर्चा कार्यक्रम , खेल और चुनाव समीक्षाएँ आदि हिन्दी में आ रहे हैं। बी.बी.सी., व्यॉएस ऑफ अमेरिका तथा अन्य अनेक देशों के प्रसारण हिन्दी में भी हो रहे हैं। समाचारों का वाचन हो या अँग्रेजी समाचारों का हिन्दी में अनुवाद या भाषांतरण हो, हिन्दी ज्ञान आवश्यक है। रेलों तथा विमानों मे उद्घोषकों के लिए हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है।

(४) 'प्रबंधन विज्ञान' के क्षेत्र में तो हिन्दी की भरमार संभावनाएँ मौज़ूद हैं। प्रसन्नता की बात है कि महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा में बी.बी.ए. और एम.बी.ए. के पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण हिन्दी माध्यम से प्रारंभ हो गया है। इससे हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने वालों के लिए रोज़गार के द्वार निश्चय ही खुल जाएँगे। अन्य विश्वविद्यालयों को भी इसका अनुसरण करना चाहिये।

(५) इंजीनियरिंग, प्रौद्योगिकी और चिकित्सा के क्षेत्र में भी हिन्दी माध्यम आरंभ होने से हिन्दी की संभावनाएँ बढ़ जाएँगी। आवश्यकता इस दिशा में पहल करने की है। सभी उन्नत देशों में इन विषयों की शिक्षा वहाँ की भाषाओं में ही दी जाती है। फिर, भारत में क्यों ऐसा नहीं हो सकता।

(६) अनुवाद के क्षेत्र में तो हिन्दी की विश्वव्यापी माँग है। सरकारी दफतरों के अतिरिक्त अच्छे अनुवादक, उद्योग, वाणिज्य, सूचना, मनोरंजन, पत्रकारिता, साहित्य और पर्यटन के क्षेत्र में ब ी सफलता से रोज़गार प्राप्त कर सकते हैं। संसद में हिन्दी अनुवादकों के बिना कार्य-संचालन असम्भव है। दुभाषियों की आवश्यकता राजनयिक क्षेत्र में रहती ही है। इसके लिए भी हिन्दी भाषा का ज्ञान आवश्यक है।

(७) जहाँ तक विज्ञापन के क्षेत्र का प्रश्न है यहाँ तो हिन्दी भाषा का कौशल अपना चमत्कारी प्रभाव रखता है। जादू वह है जो सिर पर चढ़ कर बोले। अँग्रेजी समाचार चैनल में भी, आप देखेंगे कि हिन्दी में विज्ञापन देना आज मज़बूरी बन गई है।

(८) खेल जगत में भी हिन्दी लोकप्रिय हो रही है। क्रिकेट के खेल में साधारण व्यक्ति भी रुचि लेता है। कमेंट्री अँग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी में भी होती है। विज्ञापन दिए जाते हैं। ऐसे मे हिन्दी सीधे खेल जगत के आर्थिक पक्ष से जु जाती है। खेल पत्रकारिता से जु ् पत्रकारों के लिए विशेष पाठ्यक्रम चलाए जा सकते हैं।

(९) भारत में हिन्दी सबसे ब ी सम्पर्क और बोल-चाल की भाषा है। अतः बैंकिंग तथा बीमा क्षेत्र का ब ा भाग हिन्दी क्षेत्र में ही उपलब्ध है, जहाँ करो ों रुपयों का व्यापार होता है। इस क्षेत्र के कर्मी हिन्दी का ही सहारा लेते हैं।

(१०) कोर्ट, कचहरी की भाषा के रूप में भी हिन्दी लोकप्रिय स्थान रखती है। हिन्दी भाषी राज्यों में तो न्यायालयों में हिन्दी का ही प्रयोग होता है। वकील, मुंशी, टंकक और आशुलिपिक तथा रजिस्ट्री और आवेदन-पत्र आदि लिखने वाले सभी हिन्दी का प्रयोग करते हैं। यदि इन राज्यों के उच्च न्यायालयों में निर्णय भी हिन्दी में होने लगें तो हिन्दी से संबंधित रोज़गार की संभावनाएँ बढ़ जाएँगी।

(११) पत्रकारिता और मीडिया जगत में तो हिन्दी संभावनाएँ अपार हैं। भारत में हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं की संख्या सबसे अधिक है। देश में सबसे अधिक छपने वाला दैनिक पत्र भी हिन्दी का ही है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक अन्य कार्य हैं जहाँ हिन्दी ज्ञान और प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है। कम्प्यूटर और इंटरनेट पर हिन्दी के प्रयोग से दुकानदारों, व्यापारियों और उद्योग-धंधों से जु` लोगों को अँग्रेजी का मुँह नहीं ताकना प`गा। हमें हिन्दी को रोज़गार और बाज़ार की ज़रूरतों से जो ना होगा, उद्योग और वाणिज्य से जो ना होगा, तभी जाकर हिन्दी के लिए रोज़गार के अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए अब अनेक विश्वविद्यालयों ने हिन्दी में साहित्य के अतिरिक्त प्रयोजनमूलक हिन्दी के पाठ्यक्रम भी आरंभ किए हैं। इससे हिन्दी को व्यावहारिक भाषा बनाने में सहायता मिलेगी।

भूमण्डलीकरण के कारण जहाँ अँग्रेजी का दायरा व्यापक हुआ है, वहीं हिन्दी की भी ज़रूरत बढ़ी है। देश की बहुत ब ी जनसंख्या हिन्दी बोलती है। भारत के बाहर भी कई देशों में हिन्दी भाषियों का बाहुल्य है, इसलिए व्यापारिक कंपनियाँ चाहे देशी हों या विदेशी, अपना माल बेचने के लिए हिन्दी की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। अतः व्यापारिक संस्थानों में हिन्दी की जानकारी रखने वालों की आवश्यकता तो रहेगी ही। विश्व-बाज़ार ने तो हिन्दी की ताकत को पहचाना है, किन्तु हिन्दी अपनी इस ताकत को कब पहचानेगी? निश्चय ही इसके लिए राष्ट्रीय सोच की आवश्यकता है, मानसिकता बदलने की आवश्यकता है और आवश्यकता है राजनीतिक इच्छा-शक्ति की। तभी जाकर हम नवयुवकों को हिन्दी के प्रति आकर्षित कर सकेंगे।

तिमिर कहीं....

केशरी नाथ त्रिपाठी

तिमिर कहीं कितना गहरा हो
मन में दीप जला करता है,
कोई कितना रहे अकेला
मन में मीत पला करता है।

धरती से अम्बर तक विस्तृत
भिन्न भिन्न आकर्षक कोहरे,
नित दिन नई लालसा जगती

मुझ पर प्रश्न उठाने वालों
नाहक दोष लगाने वालों,
पीर भरे नयनों का काजल
हिमगिरि बन पिघला करता है।

१८५७ : प्रमुख लोक गीत, लोक कविताएँ

प्रस्तुति : अरुण सिंह

चहलारी को नरेश निजद लओ सलाह कीन,
तोप को पसारा जो सभी पे दाग दीना है।
तेगन से मारि-मारि तोपन को छीन लेत,
गोरन को काटि-काटि गीधन को दीना है।
लंदन अँग्रेज तहाँ कंपनी की फौज बीच,
मारे तरवारिन के कीच करि दीना है।
बेटा श्रीपाल को अलेंदा बलभद्र सिंह,
साका रैकवारी बीच बाँका बाँधि दीना है।

(लोक कवि) 'गदर के फूल' से

भाजि गये इलंगी फिलंगी,
भाजित गये गज के असवारा।
हरिदत्त कहैं हम खेत ल न,
उइ जाय लुकान नदी के किनारा।
एक जीवत है बलभद्र बली,
जिन जाय झपटि अंगरेज को मारा।

(लोक कवि) 'जंग नामा' से

लिखि लिखि पतिया के भेजलन कुँवर सिंह,
ए सुन अमर सिंह भाय हो राम।
चम ा के टो ता दाँत से हो काटे कि,
छतरी के धरम नसाय हो राम।
बाबू कुँवर सिंह भाई अमर सिंह,
दोनों अपने हैं भाय हो राम।

(लोक कवि)

लिखतानी पाँती, लिखतानी पाँती,
भारतमाता के इज्जतिया बचावे खातिर।
सौ तोप के मार गिराई,
एक भोजपुरिया लाठी, बचावे खातिर।

(मित्र कविराज)

बाबू कुँवर सिंह तेगवा बहादुर, आरा में धूम मचाई रे।
मुट्ठी भर सेना लैके कुँवर सिंह, फिरंगिया पर छापा गिराई रे।।
कपतान लिखे मित्र कुँवर सिंह, आरा के सूबा बनाइब रे।
तोहफा देबो, इनाम देबो, तोहके राजा बनाइब रे।।
बाबू कुँवर सिंह देले सनेसवा, मोसे न चली चतुराई रे।
जब तक रही रकतवा के बूँद, मारग नई ददलाई रे।।

(लोक कवि)

अन्न, धन, जन, बल, बुद्धि सब नास भइल,
कौनों के ना रहल निसान रे फिरंगिया।

XXXX

चेत जाउ चेत जाउ भैया रे फिरंगिया ते,
छो दे अधरम के पंथ रे फिरंगिया।

XXXX

दुखिया के आह तोर देहिया के भसम कै देई,
जरि भूनि होई जाइबे छार रे फिरंगिया।

भारत के छाती पर भारत के बच्चन के,
बहत रकतवा के धार रे फिरंगिया।
(लोक कवि - मनोरंजन प्रसाद सिन्हा)

लोहागढ़ कठिन मवात,
फिरंगी झाँसी भरोसैं ना रहियो।
जब तोप चलें, गोला चलें, भालन की है मार,
जब सीस हथेली ले चलें, जमराज के सिरदार,
फिरंगी झाँसी भरोसैं ना रहियो।
(लोक कवि)

कट गयी झाँसी वारी रानी।
झाँसी वारी रानी, कट गई झाँसी रानी लाल।
चौतरफा से आफत आ गई, झाँसी भई बिरानी।
घर-घर बि न लगे अँगरेजवा, लूटत है रजधानी।
बहुएँ-बिटियाँ पकर लेत हैं, करत राम मनमानी।
'खान फकीरे' उधम मच रओ, सबरी बात नसानी।
(लोक कवि - खान फकीरे)

अवध माँ राना भयो मरदाना।
पहिल ल ाई भई बक्सर माँ सेमरी के मैदाना।
हुवाँ से जाय पुरवा माँ जीत्यो तबै लाट घबराना।।
नक्की मिले मान सिंह मिलिगै जानै सुदर्शन काना।
छत्री बंस एकु ना मिलिहैं जानै सकल जहाना।।
X X X X
हाथ माँ भाला बगल सिरोही घो ा चलै मस्ताना।
कहैं दुलारे सुन मोरे प्यारे यों राना कियो पयाना।।
(लोक कवि - दुलारे)

शब्द से परे

डॉ. रमा सिंह

शब्द से परे, अर्थ से परे
कोई नाद था -
जिससे बँधे हम, दौ ते रहे -
शर-बिद्ध मृग जैसे।

कथा से परे, व्यथा से परे
कोई हिम शिला थी, जो पिघल कर -
बहती रही, हमारे सहमे हुए दृग से।

रूप से परे, रंग से परे
कोई मादक सुगंधि थी, जिसे -
हम तलाशते रहे, कस्तूरी मृग जैसे।

वह नाद, वह शिला, वह गंध क्या थी
जिसे हम तलाशते रहे रेतीले तटों पर
एक प्यासे मृग-से....।

ग़ज़ल

ख़याल खन्ना

बहरों को कुरआन सुनाना मुश्किल है
अंधों को भगवान् दिखाना मुश्किल है

गूँज रही हों आहें जब मज़्लूमों की
होठों पर मुस्कान सजाना मुश्किल है

आसाँ है आसान को मुश्किल कर देना
मुश्किल को आसान बनाना मुश्किल है

चोरों को दी जा सकती है रखवाली
हर दर पर दरबान बिठाना मुश्किल है

ख़ुद्दारी ले आयी है किस मंज़िल तक
अपना भी एहसान उठाना मुश्किल है

चेहरों की इक भी है चारों ओर 'ख़याल'
इस युग में पहचान बनाना मुश्किल है।

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित